

प्रकार उनके समय में हिन्दी समालोचना का मार्ग कुछ और प्रशस्त हुआ।

इस विद्वत् मिथ-बन्धुओं ने 'हिन्दी-नव-रत्न' और 'मिथ-बन्धु-निर्देश' नामक दो ग्रंथ लिख कर हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में नवजाति पैदा कर दी। पञ्चम शताब्दी में हिन्दी के चन्द से लेकर भारतेन्दु तक नौ महा-कवियों का विवेचन है। इस स्तुत्य कार्य द्वारा मिथ-बन्धुओं ने हिन्दी में 'निर्देश' का सत्प्रयोग का मार्ग खोल दिया। दूसरा ग्रंथ यद्यपि 'निर्देश' का श्रेष्ठत-संग्रह ही है तो भी अपनी कोटि का इलाख्य प्रयास है। 'मिथ-बन्धु' को इन दोनों पुस्तकों द्वारा कवियों तथा काव्यों के मननशील एवं विवेचनापूर्ण तुलनात्मक अध्ययन को आलोचना में प्रधानता देने की प्रणाली का सूत्रपात हुआ और उत्कृष्ट एवं प्रशस्त समालोचना का मार्ग खुल गया।

इसके बाद 'बिहारी' पर पं० परमसिंह शर्मा ने एक आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। मिथ-बन्धुओं ने जिस तुलनात्मक आलोचना-मदति की ओर संकेत किया था इस पुस्तक में उसको प्रधानता दी गई है। 'आर्या-सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' संस्कृत काव्यों के पद्यों के साथ बिहारी की तुलना करके बिहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया। इन दोहों की तुलना अनेक अन्य कवियों की रचनाओं से करते हैं। इन दोहों के समक्ष उन कवियों को हीन सिद्ध करने का प्रयत्न है। इस प्रकार इस पुस्तक में लेखक ने काव्य-मनीषात्मक विवेचन, आलोचना व्यवहृत करने का प्रयत्न किया और परम्परागत नरूपिणी सौली का निर्वाह किया, परन्तु वे भी हठि से बाहर बहारी को येनकेन प्रकारेण श्रेष्ठ मिद्ध करने के प्रयत्न में लगे। मर्मादा का भी उल्लेखन कर गया और वही-वही तो पतित हो जाता है। मूल से छायानुवाद तक की वही-वही महत्ता दर्शाने का प्रयत्न किया गया। इस पुस्तक की रचना के अंग ही है। इन प्रतियों के होते हुए भी से

२६

— 2111807 — ११

का कार्य सराहनीय है। पुस्तक अपने ढंग की अनूठी है और साहित्य में अच्छा स्थान रखती है।

सर्माजी की यह तुलनात्मक शैली विशेष लोकप्रिय हो गई। लोग इसके पीछे घेतरह पड़ गये और तुलना करना ही समालोचना मानी जाने लगी। अनेक लेखक मैदान में उतर आये और पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी आलोचना की भरमार हो गई। दो कवियों की रचनाओं में वस्तु-भाव-साम्य न होने पर भी तुलनाएँ प्रस्तुत की जाने लगी और एक को दूसरे से थोड़ा सिद्ध करने के प्रयत्न में कलम का जोर आजमाया जाने लगा। इस प्रकार समालोचना की घूम तो खूब मची पर ऊँचे प्रकार की आलोचनाओं का अभाव ही रहा। हा, इतना अवश्य हुआ कि इस दौड़-धूप में भाषा का रूप निखर उठा और खड़ी बोली परिष्कृत, परिमार्जित एवं साहित्यिक हो गई और उसका रूप स्थिर हो गया।

### (३) नवीन काल—

ऊपर के विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि अब तक हिन्दी-आलोचना का प्रवाह अपने मूल-स्थान से कुछ आगे अवश्य बढ़ आया था पर उसका मेलापन अभी तक दूर न हो सका था। मिथवन्धु, पद्मसिंह आदि की आलोचनाओं में समालोच्य कवि या काव्य की विशेषताओं पर दृष्टि तो अवश्य रखी गई पर उनमें पक्षपात की छाया का प्रभाव अवश्य बना रहा, जिसके कारण गुण या दोष प्रदर्शन का कार्य प्रतिफलित हुआ। 'देव घड़े कि बिहारी' के भट्टे सगड़े की प्रवृत्ति के फलस्वरूप कवियों को छोटा-बड़ा प्रमाणित करने वाली जो आलोचनाएँ हुईं उन्हें शुद्ध समालोचना में स्थान देना उचित नहीं। हा, कुछ गिनी-चुनी आलोचनाएँ अवश्य हुईं जिन्हें अपवाद-स्वरूप कहा जा सकता है। इधर योरूप की समीक्षा-पद्धति का आश्रय लेकर अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दी समालोचकों ने जो आलोचनाएँ प्रस्तुत की वे अत्यन्त हास्यास्पद थीं। अंग्रेजी कवियों की समीक्षाओं से उद्धृत उक्तियों और पदावलियों को हिन्दी लिबास में हिन्दी कवियों के लिए प्रयुक्त किया जाने

प्रकार उनके समय में हिन्दी समालोचना का मार्ग कुछ और प्रगम हुआ ।

इसमें विद्वद्गण मिथ-बन्धुओं ने 'हिन्दी-मय-रत्न' और 'मिथ-बन्धु-पिनोद' नामक दो ग्रंथ लिख कर हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में नवजाति पैदा कर दी । प्रथम पुस्तक में हिन्दी के चन्द गे लेखक भारतेन्दु तक की महा-कवियों का विवेचन है । इस सगुण्य कार्य द्वारा मिथ-बन्धुओं ने हिन्दी में विवेचनापूर्ण समालोचना का मार्ग खोल दिया । दूसरा ग्रन्थ यद्यपि कवियों का इतिवृत्त-ग्रन्थ ही है तो भी अपनी कोटि का इलाख्य प्रमाण है । मिथ-बन्धुओं की इन दोनों पुस्तकों द्वारा कवियों तथा काव्यों के मननशील एवं विवेचनापूर्ण तुलनात्मक अध्ययन को आलोचना में प्रधानता देने की प्रणाली का सूत्रपात हुआ और उत्कृष्ट एवं प्रशस्त समालोचना का मार्ग खुल गया ।

इसके बाद 'बिहारी' पर पं० पद्मसिंह शर्मा ने एक आलोचनात्मक पुस्तक निकाली । मिथ-बन्धुओं ने जिस तुलनात्मक आलोचना-मार्ग की ओर संकेत किया था उस पुस्तक में उसको प्रधानता दी गई है । 'आर्या-सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' संस्कृत काव्यों के पद्यों के साथ बिहारी के दोहों की तुलना करके बिहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया । इसी प्रकार इन दोहों की तुलना अनेक अन्य कवियों की रचनाओं से करते हुए लेखक ने बिहारी के समक्ष उन कवियों को हीन मिथ करने का प्रयत्न किया है । इस प्रकार इस पुस्तक में लेखक ने काव्य-समीक्षात्मक विवेचन तथा तुलनात्मक आलोचना व्यवहृत करने का प्रयत्न किया और परम्परागत गुण-दोष-निरूपिणी शैली का निर्वाह किया, परन्तु ये भी रूढ़ि से बाहर न जा सके । बिहारी को येनकेन प्रकारेण श्रेष्ठ मिथ करने के प्रयत्न में लेखक आलोचना की मर्यादा का भी उल्लंघन कर गया और कही-कही तो पक्षपात स्पष्ट लक्षित हो जाता है । मूल में छायाणुवाद तक की कही-कही अनुचित रूप से महत्ता दर्शाने का प्रयत्न किया गया । इस पुस्तक की शैली रोचक है और बातचीत के ढंग की है । इन श्रुतियों के होते हुए भी लेखक

का कार्य सराहनीय है। पुस्तक अपने ढंग की अनूठी है और साहित्य में अच्छा स्थान रखती है।

सर्माजी की यह तुलनात्मक संली विसंग लोकप्रिय हो गई। लोग इसके पीछे बेतरह पड़ गये और तुलना करना ही समालोचना मानी जाने लगी। अनेक लेखक मैदान में उतर आये और पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी आलोचना की भरमार हो गई। दो बकियों की रचनाओं में वस्तु-भाव-साम्य न होने पर भी तुलनाएँ प्रस्तुत की जाने लगीं और एक को दूसरे से थोड़ा सिद्ध करने के प्रयत्न में बलम का जोर आजमाया जाने लगा। इस प्रकार समालोचना की धूम लो खूब मची पर उन्हे प्रकार की आलोचनाओं का अभाव ही रहा। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि इस दौड़-धुन में भाषा का रूप निरंतर उठा और खड़ी बोली परिकृत, पश्चिमाजिन एवं साहित्यिक हो गई और उमका रूप स्थिर हो गया।

### (३) गर्वीन काल—

ऊपर के विवरण से यह ज्ञान हो जाता है कि अब तक हिन्दी-आलोचना का प्रसार अपने मूल-म्यान से कुछ आगे बढ़कर बढ़ आया था पर उमका मैदान अभी तक दूर न हो गया था। मिथबन्धु, पद्मविह आदि की आलोचनाओं में समालोचक कवि का काम की विशेषताओं पर दृष्टि लो अवसर नहीं पड़े पर उनमें पञ्चाल की छाया का प्रभाव अवश्य बना रहा, जिसके कारण गुप्त या दोर प्रदर्शन का कार्य प्रतिरक्षित हुआ। 'दिव दहे कि दिहली' के भरे शब्दों की प्रकृति के परास्वरण कवियों की छाया-वशा प्रभावित करने वाली जो आलोचनाएँ हुईं उन्हें गुप्त समालोचना में स्थान देना उचित नहीं। हाँ, कुछ निर्दोष-वृत्ति आलोचनाएँ अवश्य हुईं जिन्हें परास्वरण कहा जा सकता है। इससे लोग की समीक्षा-प्रकृति का आशय लेकर अनेकी पत्र-पत्रिका हिन्दी समालोचकों से जो आलोचनाएँ प्रस्तुत की वे अत्यन्त हताशापूर्ण थी। अनेकी कवियों की रचनाओं के उद्धृत उक्तिओं और वक्तव्यों की हिन्दी मित्रा में हिन्दी कवियों के लिए प्रमुख बिन्दु आने

प्रकार उनके समय में हिन्दी समालोचना का मार्ग कुछ और प्रज्ञप्त हुआ ।

इधर विद्वद्वर मिश्र-बन्धुओं ने 'हिन्दी-नव-रत्न' और 'मिश्र-बन्धु-विनोद' नामक दो ग्रन्थ लिख कर हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में नवरात्रि पैदा कर दी । प्रथम पुस्तक में हिन्दी के चन्द से लेकर भारतेन्दु तक नौ महान् कवियों का विवेचन है । इस स्तुत्य कार्य द्वारा मिश्र-बन्धुओं ने हिन्दी में विवेचनापूर्ण सत्समालोचना का मार्ग खोल दिया । दूसरा ग्रन्थ यद्यपि कवियों का इतिवृत्त-संग्रह ही है तो भी अपनी कोटि का इलाध्य प्रयास है । मिश्र-बन्धुओं की इन दोनों पुस्तकों द्वारा कवियों तथा काव्यों के मननशील एवं विवेचनापूर्ण तुलनात्मक अध्ययन को आलोचना में प्रधानता देने की प्रणाली का सूत्रपात हुआ और उत्कृष्ट एवं प्रशस्त समालोचना का मार्ग खुल गया ।

इसके बाद 'विहारी' पर पं० परसिंह शर्मा ने एक आलोचनात्मक पुस्तक निकाली । मिश्र-बन्धुओं ने जिस तुलनात्मक आलोचना-पद्धति की ओर संकेत किया था इस पुस्तक में उसको प्रधानता दी गई है । 'आर्या सप्तशती' और 'गामा सप्तशती' संस्कृत काव्यों के पद्यों के साथ विहारी के दोहों की तुलना करके विहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया । इसी प्रकार इन दोहों की तुलना अनेक अन्य कवियों की रचनाओं से करते हुए लेखक ने विहारी के समस्त उन कवियों को हीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । इस प्रकार इस पुस्तक में लेखक ने काव्य-समीक्षात्मक विवेचन तथा तुलनात्मक आलोचना व्यवहृत करने का प्रयत्न किया और परम्परागत गुण-दोष-निरूपणों से भी बचाव किया, परन्तु ये भी कठिने बाँट न जा सके । विहारी की येनयेन प्रकारेण श्रेष्ठ गिनी जाने के प्रयत्न में लेखक आलोचना की मर्यादा का भी उल्लंघन कर गया और बड़ी-बड़ी तो गलत स्पष्ट लक्षण हो जाते हैं । मूल से छायावाद तक की बड़ी बड़ी अनुचित कद से महत्ता दानों का प्रयत्न किया गया । इस गुणक की शोभी रोषक है और बातचीत के ढंग की है । इन भ्रष्टियों के होते हुए भी



लगा। इस प्रकार समालोचना-क्षेत्र में एक प्रकार की उच्छृंखलता ने प्रवेश कर लिया। आलोचना केवल व्यवसाय के लिए की जाने लगी और दृष्टि से भ्रष्ट आलोचनात्मक लेखों की भरमार से पत्र-पत्रिकाओं के आकार बढ़ने लगे। ऐसे समय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आविर्भाव हुआ जिसे हिन्दी साहित्य के लिए देवी वरदान ही समझना चाहिए। शुक्लजी ने अपनी समर्थ लेखनी और सक्षम चिन्तनशीलता से हिन्दी-आलोचना की काया-पलट कर दी। शुक्लजी ने हिन्दी-आलोचना को अभीष्ट मार्ग की ओर प्रेरित ही नहीं किया बल्कि उसमें उस मार्ग पर चलने की गति का भी संचार किया। शुक्लजी ने उस विवेचनात्मक या विदलेपणात्मक आलोचना का द्वार खोला जिसमें कवि-कार्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों रूपों पर गहन विचार एवं छान-बीन की जाती है तथा उसकी विशेषताओं को देश-काल की परिस्थिति में विचारते हुए निरूपित किया जाता है। कवि की विचार-धारा में प्रवेश कर आलोचक तटस्थ रहकर कवि की अन्तर्वृत्तियों का विवेचन करता हुआ आलोचना करता है—उस शैली में शुक्लजी ने आलोचना करने का मार्ग-प्रदर्शन किया। शुक्लजी ने तुलसी, गूर और जायसी पर जो आलोचनाएँ की हैं वे मार्मिक, मननशील, और विस्तृत अध्ययन से परिपूर्ण हैं। शुक्लजी आलोच्य कवि के लिए पूरी सहानुभूति से भरा हुआ हृदय लेकर कई दृष्टियों से विवेचना करते हुए तथ्य पर पहुँचने और उसे उद्घाटित करने में ही आलोचक की सफलता समझते थे। इनकी तुलसी, गूर और जायसी पर की हुई आलोचनाएँ बड़ी गंभीर, व्यापक एवं सुन्दर हैं और अपनी बौद्धिक अतुल्यता हैं। हिन्दी में इन आलोचनाओं का विशेष महत्त्व है। इनमें कवियों के गुण-दोष निरूपण के साथ साहित्य में उनके स्थान-निर्धारण तथा उनके कवि-कर्म का व्यापक स्तर पर स्पष्टीकरण बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। इनके अनिश्चित इन्होंने 'वाक्य में रहस्यवाद' शीर्षक मधेयनापूर्ण ग्रन्थ की रचना करते छायावाद के उद्घाटन प्रवाह को नियंत्रित कर दिया। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिख कर शुक्लजी ने जो उत्तराग्रगण्य कार्य कर दिया, हिन्दी का यह महा-कार्य है।

रहेंगे। यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के सब प्रकार के ज्ञान के लिए एक प्रामाणिक स्रोत है। इनके अनिर्विकल्प साहित्यिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए शुभाजी ने बड़े स्वतन्त्र निदर भी लिखे। इस प्रकार शुभाजी एक आलोचक ही नहीं थे, बल्कि एक सुविशेष पद्यप्रदार्थक भी थे। शुभाजी भारतीय वाक्य-सिद्धान्तों पर पूर्ण निष्ठा रखने में और उन्होंने इन्हीं सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण एवं सुष्टीकरण किया है। मध्यमालोचना के प्रवाह को तेजी के साथ आगे बढ़ाने वाली में बाबू ध्यामगुन्दरदासजी भी विशेष उल्लेखनीय हैं। शुभाजी के समान बाबूजी का भी महत्वपूर्ण स्थान है। सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में बाबूजी सर्वप्रथम अग्रसर हुए थे और उन्होंने विशेषतः मौखीय साहित्य-सिद्धान्तों की दृष्टि में रखकर 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ में कला के नाता शब्दों का विवेचनापूर्ण स्पष्टीकरण, पाश्चात्य सिद्धान्तों का भारतीय सिद्धान्तों के साथ समन्वय तथा साहित्य के विविध अंगों पर विचारपूर्ण प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में बाबूजी ने एक प्रकार से साहित्य की रूप-रेखा ही उपस्थित कर दी है। यह पुस्तक साहित्य के समीक्षात्मक अध्ययन के लिए एवं विद्यार्थी-वर्ग के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। बाबूजी ने 'हिन्दी भाषा और उसका साहित्य' शीर्षक एक बृहद् ग्रन्थ लिखा, जिसका पूर्वाद्ध हिन्दी भाषा के विकास एवं वैज्ञानिक प्रगति तथा उत्तरार्द्ध इतिहास के सम्बन्ध में गवेषणापूर्ण खोज तथा विवेचनात्मक आलोचना का परिचायक है। आपने गोस्वामी तुलसीदास और भारतेन्दु पर भी सुन्दर एवं मार्गभित आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। 'भाषा विज्ञान' के द्वारा भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। भाषा पर आपने कई प्रामाणिक निवन्ध भी लिखे। आपका सम्पूर्ण जीवन ही हिन्दी की सेवाओं के लिए समर्पित रहा।

प० अयोध्यासिंह उपाध्याय जी ने भी आलोचना-क्षेत्र में प्रशंसनीय काम किया। आपकी गणना मननशील लेखकों में की जाती है। आप क्लिष्ट से क्लिष्ट एवं सरल से सरल हिन्दी लिखने की क्षमता रखते थे। उनके शब्द में भी पद्य का-या आनन्द मिलता है। आप प्रसिद्ध भाषा-



समर्पण थे। आपकी 'गंदर्भ-संस्कार' पुष्पक गुन्दर एवं मायिक आलोचनात्मक निष्कर्षों का संग्रह है जो साहित्य के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त लाभदायक है। स्वयं महाकवि होने के कारण कवि-कर्म की जो मायिक व्याख्या एवं मूढ्य तथा गार्ग्यभित्त विवेचना आपकी लेखनी से हुई वह सर्वथा ग्रहणीय है। 'हिन्दी और उसके साहित्य का विकास' नाम का ग्रन्थ पटना विश्वविद्यालय में दिये गये आपके गारपूर्ण भाषणों का संग्रह है। इसी समय श्री पदुमलाल पुत्रालाल बस्ती ने 'हिन्दी-साहित्य विमर्श' और 'विश्व-साहित्य' दो आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित की। 'विश्व-साहित्य' में पादचाय मीमांसा के आधार पर लिखे गये अत्यन्त उपयोगी और प्रेरणा-प्रद लेखों का संग्रह है। आपके निबन्ध गम्भीर विचारों से युक्त होते हैं और विद्वत्ता, गम्भीर अध्ययनशीलता एवं विशद विचार-शैली के परिचायक होते हैं। आप हिन्दी के गिने-भूने सुयोग्य विद्वानों एवं प्रकाण्ड पंडितों में से हैं। द्विवेदीजी के बाद 'सरस्वती' के सम्पादन का भार आप ही के सुयोग्य हाथों में आया था।

हिन्दी-समालोचना को अप्रसर करने में बा० गुलाबरायजी ने भी अपना पूर्ण सहयोग दिया है। आधुनिक समालोचना-साहित्य में आपका भी विशेष स्थान है। आप सुप्रसिद्ध दर्शन-वेत्ता एवं गम्भीर समालोचक हैं। आपका अध्ययन अत्यन्त विस्तृत एवं गहन है। आप समालोचना-पद्धति में आचार्य शुक्लजी के कार्य की आगे बढ़ा रहे हैं। उसी आलोचना-पद्धति के समर्थक हैं। इनकी गणना समालोचना के शुक्ल स्कूल में ही की जाती है। 'हिन्दी-नाट्य विमर्श', 'आलोचना-संग्रह' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' नामक आपके उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'साहित्य-संदेश' हिन्दी-आलोचना की ओर जो उपयोगी कार्य कर रहे हैं। आलोचना की दृष्टि से यह पत्र अपनी कीर्ति का स्वर अति प्रशस्त है तथा जो लेख इसमें आते हैं, एवं उच्च कीर्ति के होते हैं।

इस पत्र के द्वारा सुखविपूर्ण आलोचना का श्लाघनीय प्रचार एव प्रसार हो रहा है। बा० गुलाबरायजी की आलोचना-शैली गंभीर होती हुए भी सुवोध होती है। वे बात को मीधे सरल ढंग से उपस्थित करना खूब जानते हैं। भाषा भी सरल एव सीधी-सादी होती है। विद्यार्थियों की दृष्टि से भावूनों की आलोचना-शैली विशेष उपयोगी सिद्ध हुई है और वे विद्यार्थियों में अधिक प्रिय भी हो गये हैं। इस आलोचना-पद्धति को अप्रसर करने वालों में सर्वश्री डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा आदि के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं। अपनी-अपनी दिशा में इन्होंने प्रशस्तनीय साहित्य की रचना की है और आलोचना के भण्डार को भरने में पर्याप्त योगदान किया है। प० हजारी प्रसाद द्विवेदी तो आज के युग के गम्भीर विवेचक एव मुष्ट पारखी माने जाते हैं। 'मूर-साहित्य', 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' नाम की आलोचना-मुस्तकें आपकी विशेष देन हैं। द्विवेदीजी की आलोचना गवेषणा के कार्य पर आधारित है। गम्भीर विवेचन करते हुए आपने एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करने के प्रयत्न विधे हैं। आपकी भाषा मस्कृतमयी होने हुए भी विशेष आकर्षक एव बोधगम्य होती है। मीठी चुटकी भरना आप खूब जानते हैं।

आचार्य सुकट के योग्य गिण्ठों में स्व० डा० बटखाल का नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है। समालोचना की प्रेरणा आपको मीधे सुकटजी से ही मिली और उन्हीं के चरणों में बैठ कर आपने इस कार्य में कुशलता भी ग्रहण की। मन्त बवियों की विस्मृति के गर्भ में निजालने का ध्येय डा० बटखालजी को है। इन्होंने निर्गुण-आम्रदाय के शक्तों पर स्तौत्रपूर्ण कार्य किया तथा इस कार्य के लिये मार्ग प्रशस्त किया। आपका पण्डित्य विद्याल एव गहन था। मूर, तुलसी एवं बेराव पर लिखी आपकी आलोचनाएँ अप्रतिहारपूर्ण गिनी जाती हैं। इस कार्य में आप का स्वामनुस्मरणार्थी के निर्देशन में भी कार्यरत रहे हैं।

इस प्रकार साहित्य के समालोचना-विभाग में विद्वान्-विक्रमक प्रजापति शैली, मोड़-आलोचनात्मक शैली, यूरोपीय ढंग की आलोचना



साहित्य के सहायक के रूप में ग्रहण करते हैं। अमल में यह कवि के साथ आत्ममिलन है, एक तटस्थ सामीप्य के साथ। तटस्थ सामीप्य के कारण समीक्षक अपना कर्तव्य-विवेक अनगल नहीं होने देता, यो कोई अनगल भले ही अनगल हो जाय। नई समालोचनाओं में न तो पद्यसिंहजी की चुल-बुलहट है, न मिश्र-वन्द्युओं का आर्टिफिशियल रिमार्क, न द्विवेदीजी का ऐंष्टिक कवि परिचय और न शुक्लजी का गुग्गुलु दास्त्रीय विद्वेषण, है केवल हृदय सतरण या रसमचरण। सरमता ही इनका गुण है, तरल अभिव्यक्ति इनकी शैली।”

इस शैली के आधुनिक प्रतिनिधियों में श्रीमती महादेवी वर्मा तथा श्री शान्तिप्रियजी द्विवेदी मुख्य हैं—आलोचना के उपरिलिखित गुण आप दोनों के लेखों में प्रभूत मात्रा में विद्यमान रहते हैं। ये दोनों ही प्रतिष्ठित कवि और यशस्वी समालोचक हैं। शान्तिप्रियजी ने ‘हमारे साहित्यनिर्माता’ ‘साहित्यिकी’, ‘संचारिणी’, ‘कवि और काव्य’ तथा ‘युग और साहित्य’ आदि अनेक आलोचना पुस्तकों की रचना की है। आपकी शैली बड़ी अनूठी है। पढ़ने की हृदय पर मोघा प्रभाव डालने वाली है। इनकी शैली की प्रमुख विशेषता यह है कि आलोचना जंगे गभीर विषय में भी काव्य का-सा आनन्द आता है। आपकी शैली और भाषा दोनों में ही भावमयता की मयूरता अंतर्भूत रहती है। इनकी अपनी ही एक नवीन शैली है।

श्रीमती महादेवी के गद्य में भी उपरिलिखित सभी गुण विद्यमान हैं। गभीर प्रकृति की होने हुए भी उनके गद्य में भावमयता को तरल सहृदय लहराती रहती है जो पाठक के मन को ऊबने नहीं देती। विचार-भागीय और भाव-प्रवणता का एक ऐसा अनुश्रवण सामग्रस्य इनके आलोचनात्मक लेखों में पाया जाता है कि पाठक विषय को हृदयगम करता हुआ एक विशेष सरसता का अनुभव करता है। समुत्तम महादेवीजी की शैली में तरल अभिव्यक्ति और रसादता आदि से अन्त तक विद्यमान रहती है। इनकी ‘महादेवी का विवेचनात्मक गद्य’ नामक पुस्तक में इनके आलोचनात्मक लेखों का

स्वयं श्रेष्ठ कवयित्री होने के नाते उनके काव्यालोचन का विशेष महत्त्व है। काव्य के अन्तर्गत दोनों स्वरूपों से उनका निजी घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उनके काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी विचारों एवं काव्य-विवेचन का अपना निजी स्थान होना स्वाभाविक है। छायावादी-आलोचना स्कूल में श्रीमती महादेवी का स्थान सर्वोपरि है, इसमें सन्देह को स्थान नहीं। भाषा पर उनका गद्य में भी उतना ही बलपूर्ण अधिकार है जितना कविता में। इतना भेद अवश्य है कि इनका गद्य, भले ही यह विवेचनात्मक भी क्यों न हो, इनके काव्य से अधिक सुस्पष्ट होता है। काव्य में ये भावों के प्रवाह में अपने आपको भूल जाती-सी प्रतीत होती हैं तो काव्य की विवेचना में उतनी ही सजग एवं स्पष्टता-प्रिय। गहन विचारों का विश्लेषण करते समय सर्व-परिचित उदाहरणों के द्वारा ये ऐसे समझाती-सी बातें होती हैं मानों कथा में ही लेखक दे रही हों। इनके उदाहरण प्रायः सरस एवं आस-पास के संसार से लिये हुए होते हैं।

हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में कुछ वर्षों से प्रगतिशील आलोचना नाम से एक और पद्धति का आविर्भाव हुआ है। वस्तुतः इस आलोचना प्रणाली का मुख्य ध्येय प्रगतिशील साहित्य का पृष्ठपोषण करना ही प्रतीत होता है। ये सब प्रकार की प्राचीन विवेचना-प्रणालियों के विरोध में झण्डा लेकर मैदान में उतरे हैं और इनके अनुसार प्राचीन—सब कुछ हेय और त्याज्य है। यदि इस मनोवृत्ति में कुछ सुधार हो जावे तो संभव है प्रगतिशील आलोचना द्वारा हिन्दी के काव्य-साहित्य में और भी उन्नति हो सके। इस प्रणाली के आलोचकों में डा० राम विलास, शिवदान सिंह चौहान आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री अक्षय का नाम भी इसी कोटि में गणनीय है।

ऊपर किये हुए संक्षिप्त विवेचन से हिन्दी के आलोचना-साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है। आशा है इससे विद्यार्थीगण आलोचना के अन्य ग्रन्थों को पढ़ने के लिये प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

## विषय-सूची -

ध्याय

काव्य-कला

(धौमती महादेवी वर्मा)

१

भक्ति-काल की अन्तश्चेतना

(श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी)

३९

महाकवि सूरदास

(स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

५७

गोस्वामी तुलसीदास

(डा० श्यामसुन्दरदास व डा० पीताम्बरदास)

९३

आचार्य कवि केशवदास

(श्री गुलाबराय)

१३३





ॐ ( ले०—श्रीमती महादेवी दत्त )

सत्य पर जीवन का सुन्दर ताना-बाना करने है —

स्यूल-सूदम सभी विषयों को अपना उद्देश्य है —

कठोर स्थलता से रग-रेखाओं की निश्चित है —

स्थिति और तब शब्द की सुदम व्याख्या है —

२) वम में यह जान लेना बहुत सहज है —

३) भूजन को पापण की भूतिमत्ता, गन्तव्य है —

४) सब



के लिये सामान्य विचार का बोध होता बहिन है और विचार की व्यापकता के अभाव में इन बातों की अनवधारणता की सम्पूर्ण गम्या गयी। अथवा शायद वे शायद हमारी स्थिति भी बहुत कुछ समझी ही नहीं है। इनका विचार था हम अपनी सीमा में बंधे रहने हैं, उसे हमारी सीमा में रखकर देना आवश्यक हो जाता है जहाँ वह हमारी सीमा में रहकर जो रूप की व्यापकता में अपनी निश्चित स्थिति बनाये रहे।

[व्यापकता की सीमा में जो शायद की सीमा दोहरी स्थिति महत्त्व हो नहीं रहा था कि भी है, अन्यथा उसे तरलता बहुत करना सम्भव न हो गीला। परन्तु, शब्द में अणु की इस स्थिति को प्रेरणीय बना देना दुर्लभ नहीं तो बहिन अवश्य है। आचार की रीतियों की सम्या, सम्झाई बौद्धि, हल्का भारीयन आदि गणिन के अर्थों में बांधे जा सकते हैं, परन्तु रीत से परिमाण तक व्यापक सजीवता का परिचय संख्या, मात्रा या तोल से नहीं दिया जा सकता। आचार को ठीक नाप-जोम के साथ दूसरे तक पहुँचा देना जितना महत्त्व है, जीवन को सम्पूर्ण अनुलनीयता के साथ दूसरे को दे सकना उतना ही बहिन है।]

सत्य की व्यापकता में से हम चाहे जिस अंश को ग्रहण करें वह हमारी सीमा में बंधकर व्यापक हो ही जाता है और इस स्थिति में हमारी सीमा के साथ साक्षेप, पर अपनी व्यापकता में निरपेक्ष बना रहता है। दूसरे के निकट हमारी सीमा से घिरा सत्य हमारा रहकर ही अपना परिचय देना चाहता है और दूसरा हमें तोलकर ही उस सत्य का मूल आंकने की इच्छा रखता है। इतना ही नहीं उसकी तुला पर रुचि-वैचित्र्य, सत्कार, स्वार्थ आदि के न जाने कितने पासगो की उपस्थिति भी सम्भव है, अतः सत्य के साक्षेप ही नहीं निरपेक्ष मूल्य के सम्बन्ध में भी अनेक मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त मनुष्य की चिर अतुल्य जिज्ञासा भी कुछ कम नहीं रोकती ठोकती। 'हमने अमुक वस्तु को अमुक स्थिति में पाया' इतना कथन ही पर्याप्त नहीं, क्योंकि सुननेवाला कहीं-कहीं कहकर उसे अपने

के अङ्गों में बँधी नाप-जोख के लिए स्थान नहीं ।

मस्तिष्क और हृदय परस्पर रहकर भी एक ही पथ में नहीं चलते । बुद्धि में समानान्तर पर चलनेवाली भिन्न-भिन्न ध्येयता है और अनुभूति में एवतारता लिये गहराई । ज्ञान के क्षेत्र में एक छाटी रेखा के नीचे उगमे बड़ी रेखा स्वीचकर पहली का छोटा और भिन्न अस्तित्व दिखाया जा सकता है । इसके अमरन उदाहरण, विज्ञान जीवन की स्मृत सीमा में और दार्शनिक जीवन की सूक्ष्म असीमता में दे चुका है । पर अनुभूति के क्षेत्र में एक ही स्थिति में नीचे और अधिक गहराई में उतरकर भी हम उमकें साथ एक ही रेखा पर रहने हैं । एक वस्तु को एक व्यक्ति अपनी स्थिति-विशेष में अपने विशेष दृष्टिबिन्दु से देखता है, दूसरा अपने परावर्तन पर अपने से और तीसरा अपनी सीमारेखा पर अपने में । तीनों ने वस्तुविशेष को जिन विशेष दृष्टिकोणों से जिन विभिन्न परिस्थितियों में देखा है वे उनके तद्विषयक ज्ञान को भिन्न रेखाओं में घेर लेंगी । इन विभिन्न रेखाओं के नीचे ज्ञान के एक सामान्य परावर्तन की स्थिति है अथवा, परन्तु वह अपनी स्वाधीनता के परिचय के लिए ही इस अनेकता को समाने रहती है ।

अनुभूति के सम्बन्ध में यह बर्णनाई सरल हो जाती है । एक व्यक्ति अपने दुःख को बहुत तीव्रता से अनुभव कर रहा है, उसके निकट आत्मीय को अनुभूति में तीव्रता को मात्रा कुछ घट जाती और माध्यम विषय में समझ और भी स्पष्ट हो जाना सम्भव है; पर जहाँ तक दुःख के सामान्य संवेदन का प्रश्न है वे तीनों एक ही रेखा पर, निकट, दूर, अधिक दूर, की स्थिति में रहेंगे । हा, जब उनमें से कोई उन दुःख को, अनुभूति के क्षेत्र से निकालकर बौद्धिक परावर्तन पर रख देता तब क्या ही दृढ़ता हो जाती । अनुभूति अपनी सीमा में जिह्वा रखने है उसी बुद्धि नहीं । हमारे स्वयं चलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के साथ हाँ चलने के ज्ञान से अधिक रहती है ।

प्रस्ताव

अभिज्ञान एवम् अन्ये च



सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आधारित हैं, केवल भाव-स्वरूप पर नहीं। प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणि-जगत् की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता सबकुछ इनके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत हैं और इसमें से शुद्धतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी मुहूर्त या उपस्थित होते हैं जिनमें वह पर्वत के समकदा सड़ी होकर ही सफल हो सकती हैं और गुह्यतम वस्तु के लिए भी ऐसे लघु क्षण या पहुँचते हैं जिनमें वह छोटे तृण के माथ बँट कर ही कृतार्थ बन सकती हैं।

जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त छोटा, बड़ा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरह्य, आकर्षक, भयानक, कुछ भी कला-जगत् में बहिष्कृत नहीं किया जाता। उज्जले कमलों की चादर जैसी चादन में मुस्कराती हुई विभावरी अभिराम<sup>मूर्ति</sup> हैं, पर अंधेरे के स्तर पर स्तर ओढ़कर विराट् बनी हुई काली रजनी भी कम सुन्दर नहीं। फूलों के बोझ से झुक झुक पड़नेवाली लता कोमल है, पर शून्य नीलिमा की ओर विस्मृत बालक-सा ताकनेवाला ठूठ भी कम सुकुमार नहीं। अविरत जलदान से पृथ्वी की कँपा देनेवाला बादल ऊँचा है पर एक बूद औगु के भार से ना और वम्पित तृण भी कम उन्नत नहीं। गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में कंकाल छिपाये हुए, रूपमी कमनीय है, पर स्त्रियों का जीवन का विज्ञान लिखे हुए बूढ़ भी कम आकर्षक नहीं। बाह्य जीव की बढोरता, संपर्प, जय-भराजय सब मूल्यवान् हैं पर अन्तर्जगत् का कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नहीं।

उपयोग की कला और सौन्दर्य की कला को लेकर बहुत से विवा-सम्भव होने रहे परन्तु यह भेद मूलतः एक दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं रहते।

कला शब्द से किसी निमित्त पूर्ण सण्ड का ही बोध होता है जो कोई भी निर्माण करने वाला है।





'अमृत' में प्रथम दशाक्षर वर्णित पाई' को विना ही पार्श्व-नगरी में स्थित प्रसंग  
 अग्नि की मालोचना विषयक 'अमृत' पदार्थ की विविध विधि का स्वरूप;  
 पर करने विषय पर केन्द्रित होकर जो जोरों की भावना प्रकट करने  
 माना अमृत का स्वरूप बताया है। इसी में हमारी अस्मिता अमृत  
 विना ही निकट और गीत होने के दृष्टि का अमृत रूप हमारे मन में उभर  
 ही मगल-रूप होकर आ गया है। 'अमृत' विषय का विषय अमृत बह बह की  
 समझ है। 'अमृत' विषय का विषय अमृत बह बह की  
 'अमृत' विषय है, आदि-आदि बहकर हम दृष्टि में, अमृत उगी के अन्तर  
 'अमृत' विषय है, आदि-आदि बहकर हम दृष्टि में, अमृत उगी के अन्तर  
 की गीत हुई वह अमृत है' यह हमारे अमृत बार गुनकर भी बोई जाने  
 की गीत हुई वह अमृत है' यह हमारे अमृत बार गुनकर भी बोई जाने  
 की गीत हुई वह अमृत है' यह हमारे अमृत बार गुनकर भी बोई जाने  
 की गीत हुई वह अमृत है' यह हमारे अमृत बार गुनकर भी बोई जाने

जीवन के निम्न किन्तुओं को जोड़ने का कार्य हमारा मन्त्रिक कर  
 है, पर दग नम से बनी परिधि में गतीना के रंग भरने की सज्ज  
 द्य में ही सम्भर है। बाध्य या कला मानो इन दोनों का सन्धि है  
 जिसके अनुसार बुद्धिबुद्धि होने कायमन्दल के समान बिना भार होने हुए  
 ही जीवन पर फंसी रहती है और रागादिना कृति उसके पराजित पर, स्व  
 को अनन्त रग-रूपों में फिर नवीन स्थिति देती रहती है। अतः बाध्य-  
 कला का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अमृत  
 सत्य है।

सौन्दर्य सम्बन्धी समस्या भी कुछ कम उत्तरी हुई नहीं है। बाह्य  
 या अनेकरूपात्मक है और उन रूपों का, सुन्दर तथा कुरूप में एक  
 त्वहारिक वर्गीकरण भी हो चुका है। क्या कला इस वर्गीकरण की  
 पि में आने वाले सौन्दर्य को ही सत्य का माध्यम बनाकर सत्य को छोड़  
 केवल बाह्य रसों और रंगों का सामंजस्य ही सौन्दर्य कहा जावे तो  
 , भूखण्ड का मानव-समाज ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी रुचि में  
 से भिन्न मिलेगा। जिसके रुचि-वैविध्य के अनुसार सामंजस्य की  
 जावे यह प्रश्न सत्य से भी अधिक जटिल है।

सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएं जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आधारित हैं, केवल व्यास रूपरेखा पर नहीं। प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणि-जगत् की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता सचकुछ इनके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत हैं और इसमें से शुद्धतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी मुहूर्त या उपस्थित होते हैं जिनमें वह पर्वत के रामकटा खड़ी होकर ही सफल हो सकती हैं और गुरुतम वस्तु के लिए भी ऐसे लघु क्षण या पङ्क्तियाँ हैं जिनमें वह छोटे तृण के साथ बैठ कर ही कृतार्थ बन सकती हैं।

जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त छोटा, बड़ा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक, कुछ भी कला-जगत् से बहिष्कृत नहीं किया जाता। उजले बमलों की चादर जैसी चादनी में मुस्कराती हुई विभावरी अभिराम<sup>मूर्ति</sup> हैं, पर अंधेरे के स्तर पर स्तर ओढ़कर विराट् बनी हुई काली रजनी भी कम सुन्दर नहीं। फूलों के बोझ से झुक-झुक पड़नेवाली लता कोमल है, पर सून्य नीलिमा की ओर विस्मित बालक-सा ताकनेवाला ठूठ भी कम सुकुमार नहीं। अविरत जलदान से पृथ्वी को कौंपा देनेवाला बादल ऊँचा है पर एक बूद औनु के भार से नत और कम्पित तृण भी कम उन्नत नहीं। गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में ककाल छिपाये हुए रूपसी कमनीय हैं, पर शरिरों में जीवन का विज्ञान लिखे हुए वृद्ध भी कम आकर्षक नहीं। बाह्य जीवन की कठोरता, सघर्ष, जय-यराजय सब मूल्यवान् हैं पर अन्तर्जगत् की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम धनमोल नहीं।

उपयोग की कला और सौन्दर्य की कला को लेकर बहुत से विवाद सम्भव होते रहे परन्तु यह भेद मूलतः एक दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं ठहरते।

कला दाय से किसी निर्मित पूर्ण स्रष्टा का ही बोध होता है और कोई भी निर्माण अपनी अन्तिम रियति में जितना सीमित है आरम्भ में उतना ही फैला हुआ मिलेगा। उसके पीछे स्थूल जगत् का अस्तित्व,





दूसरे को अस्तित्वहीन बह-बहकर खोजने की चिन्ता से मुक्त होने लगे ।

साथ तो यह है कि जब तक हमारे सूक्ष्म अन्तर्जगत् का बाह्य जीवन में पग-पग पर उपयोग होता रहेगा तब तक कला का सूक्ष्म उपयोग सम्बन्धी विवाद भी विशेष महत्व नहीं रख सकता । हमारे जीवन में सूक्ष्म और स्थूल की जैसी समन्वयप्रामक स्थिति है वही कला को, केवल स्थूल या केवल सूक्ष्म में निर्वासित न होने देगी । जब हम एक व्यक्ति के कार्य को स्वीकार करेंगे तब उसकी पटभूमिका बने हुए वायवी स्वप्न, सूक्ष्म आदर्श, रहस्यमयी भावना आदि का भी मूल्य आंकना आवश्यक हो जायगा और कला यदि उस वातावरण का ऐसा परिचय देती है जो कार्य से न दिया जा सकेगा तो जीवन को उसके लिए भीतर-बाहर के सभी द्वार खोलना पड़ेंगे ।

उपयोग की ऐसी निम्नोन्नत भूमिका हो सकती है जो अपने बाह्य रूपों में एक दूसरी से सर्वथा भिन्न जान पड़े; परन्तु जीवन के व्यापक धरातल पर उनके मूल्य में विशेष अन्तर नहीं रहता ।

हमारी शिराओं में संचरित जीवन-रस और दूर मिट्टी में उत्पन्न अन्न के उपयोग में प्रत्यक्ष वितना अन्तर और अप्रत्यक्षतः कौंसी एकता है यह कहने की आवश्यकता नहीं । रोगी की व्याधिविशेष के लिए दारु-विशेष उपयोगी हो सकता है, परन्तु उसके मिराहने किसी सहृदय द्वारा रसा हुआ अधगिला गुलाब का फूल भी कम उपयोगी नहीं । अपनी वेदना में छटपटाता हुआ वह, उग फूल की धीरे-धीरे छिलने और हीले-हीले झड़नेवाली पत्तियों को देख देखकर, कितनी बार विश्राम की सांस लेता है, बिग प्रकार अपने अनेलेपन को भर देता है, कितने भावों की सम-विपरीत भूमियों के पार आता-जाता है और बड़े चिन्तन के क्षणों में अपने आपको खोना पना है, यह चाहे हमारे लिए प्रत्यक्ष न हो, परन्तु रोगी के जीवन में तो साथ रहेगा ही । चतुर चिकित्सक, रोग का निदान, उपयुक्त औषधि और पथ्य आदि का उपयोग स्पष्ट है, परन्तु रोगी को स्वस्थ दृष्टान्तिक, वातावरण का अनिवार्यनीय सामग्रस्य, सेवा करनेवाले का हृदयगत स्नेह, मन्त्राव आदि उपयोग में अप्रत्यक्ष होने के कारण कम

मनुष्य है यह बात सभी भाषा का परिचय देना होगा।  
 जब वे सब सामाजिक स्थिति में सम्मिलित रहनेवाले उपयोग की इतना  
 प्रतिष्ठा है यह मनुष्य जीवन को अपनी परिधि में धरेलेंगे उपयोग का  
 मान बिना रहस्यमय हो सकता है, यह स्पष्ट है।

जिस प्रकार एक पशु के समूह में ऐतर्य शून्य तक अगम्य उपयोग  
 है, उसी प्रकार एक जीवन को, शून्यता में ऐतर्य शून्यता तक अनन्त  
 परिस्थितियों के बीच में आगे बढ़ना होगा है। इसके अतिरिक्त मनु-  
 के अभाव और उनको प्राप्तियों में इतनी सत्तापूर्ण निरूपण है, उन्हें  
 कार्य-कारण के सम्बन्ध में इतनी ग्राह्यता है कि उपयोगविशेष  
 की एक रेखा में समान जीवन को धरे लेने का प्रयास अगम्य ही रहेगा।  
 मनुष्य का जीवन इतना एकांगी नहीं कि उसे हम केवल अर्थ, केवल काम  
 या एंगे ही बिना एक बगोटी पर परत कर सम्पूर्ण रूप में सारा या सोटा  
 कह सकें। बगोटी से कपटी छुट्टी भी अपने आपियों के साथ जितना सच्चा  
 है उसे देनाकर महान् सत्यवादी भी लज्जित हो सकता है। बगोटी से बगोटी  
 अत्याचारी भी अपने सन्तान के प्रति इतना कोमल है कि कोई भावुक भी  
 उसकी गुलामी में न ठहरेगा। उद्वेग से उद्वेग बरकर भी अपने माता-पिता  
 के सामने इतना किन्त मिलता है कि उसे नष्ट सिध्य की सजा देने की  
 इच्छा होती है। सारांश यह कि जीवन के एक छोर से दूसरे छोर तक जो,  
 एक स्थिति में रह सके ऐसा जीवित मनुष्य सम्भव नहीं, अतः एकान्त उप-  
 योग की कल्पना ही सहज है। जिस चढ़े हुए मनुष्य की प्रत्यक्षा कभी नहीं उत-  
 रती वह लक्ष्यवेध के काम का नहीं रहता। जो नैव एक भाव में स्थिर है, जो  
 ओठ एक मुद्रा में जड़ है, जो बग एक स्थिति में अचल है वे चित्र या  
 मूर्ति में ही अंकित रह सकते हैं। जीवन की गतिशीलता में विश्वास कर  
 लेने पर मनुष्य की असंख्य परिस्थितियों और विविध आवश्यकताओं  
 में विश्वास करना अनिवार्य हो उठता है और अभाव की विविधता से  
 उपयोग की बहुलता एक अविच्छिन्न सम्बन्ध में बंधी है। यह सत्य है  
 कि जीवन में किसी आवश्यकता का अनुभव नित्य होता रहता है और

विमी का यदा-कदा; परन्तु निरन्तर अनुभूत अभावो की पूर्ति ही पूर्ति है और जिनका अनभव ऐसा नियमित नहीं वे अभाव ही नहीं, ऐसी धारणा अग्रान्तिपूर्ण है ।

कभी कभी एकरस अनेक वर्षों की मुलना में सहानुभूति, स्नेह, सुख-दुःख के कुछ क्षण कितने मूल्यवान् ठहरते हैं, उसे कौन नहीं जानता ? अनेक बार, व्यक्ति के जीवन में एक छन्द, एक चित्र या एक घटना ने अभूतपूर्व परिवर्तन सम्भव कर दिया है । कारण स्पष्ट है । जब कवि, चित्रकार या संयोग के मार्मिक सत्य ने, उस व्यक्ति को, एक क्षणिक कोमल मानसिक स्थिति में, छू पाया तब वे क्षण अनन्त कोमलता और करुणा के मोन्दर्य-द्वार खोलने में समर्थ हो सके । ऐसे कुछ क्षण युगों में अधिक मूल्यवान् अतः उपयोगी मान लिये जायें तो आश्चर्य की बात नहीं ।

वास्तव में जीवन की गहराई की अनुभूति के कुछ क्षण ही होते हैं, वर्ष नहीं । परन्तु यह क्षण निरन्तरता से रहित होने के कारण कम नहीं बहे जा सकते ! जो फूर मनुष्य सौ-सौ शास्त्रों के नित्य मनन से कोमल नहीं बन पाता वह यदि एक छोटे से निर्दोष बालक के सरल और आकस्मिक प्रश्न मात्र से द्रवित हो उठता है तो वह क्षणिक प्रश्न शास्त्र-मनन की निरन्तरता से अधिक उपयोगी क्यों न माना जावे । एक बाणदिद श्रौंय से प्रभावित श्रुति 'मा निपाद प्रतिप्यत् त्व'—बहुकर यदि प्रथम श्लोक और आदिवाक्य की रचना में ममर्थ हो सवा तो उस श्रुति पक्षी की व्याख्या को, मनीषी की ज्ञानगरिमा से अधिक मूल्य क्यों न दिया जावे ? यदि एक वैज्ञानिक, फल के गिरने से पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का पता लगा सवा तो उस सुच्छ फल का टूटना, पर्वतों के टूटने से अधिक महत्वपूर्ण क्यों न समझा जावे !

यदि नित्य और नियमित स्थूल ही उपयोग की कपौटी रहे तो शरीर की कुछ आवश्यकताओं के अनिश्चित और कुछ भी, महत्व की परिधि में नहीं आता । परन्तु हमारे हृदय निष्कर्ष की जीवन तो स्वीकार करे ! बुद्धि ने अपनी सीमा में स्थूलतम से सूक्ष्मतम तक सब कुछ शेष माता है और

## आदर्श आलोचना

हृदय ने अपनी परिधि में उसे सवेदनीय । जीवन ने इन दोनों को समान रूप से स्वीकृति देकर इस दोहरे उपयोग को अतंस्य विभिन्न और ऊँचे-नीचे स्तरों में विभाजित कर डाला है । जब इनमें से एक को लक्ष्य बनाकर हम जीवन का विकास चाहते हैं तब हमारा प्रयास अपनी दिशा में गतिशील होकर भी सम्पूर्ण जीवन को सामंजस्यपूर्ण गति नहीं देता । जीवन की अनिश्चित से अनिश्चित स्थिति भी उपयोग के प्रश्न को एकागी नहीं बना पाती । युद्ध के लिये प्रस्तुत सैनिक की स्थिति से अधिक अनिश्चित स्थिति और किसी की सम्भव नहीं, परन्तु उस स्थिति में भी जीवन भोजन, आच्छादन और अस्त्र-शस्त्र के उपयोग में ही सीमित नहीं हो जाता । मस्तिष्क और हृदय को सग भर विश्राम देनेवाले सुख के साधन, प्रियजनों के स्नेह भरे सदेश, रक्षणीय वस्तुओं के सम्बन्ध में ऊँचे-ऊँचे आदर्श, जय के गुनहले-हृषहले स्वप्न, अडिग साहस और विश्वास की भावना, अन्तश्चेतना का अनुशासन आदि मिलकर ही तो बीर को बीरता से मरने और सम्मान से जीने की शक्ति दे सकते हैं । पौष्टिक भोजन तिलमिलाते कवच और चकाचौंध उत्पन्न करनेवाले अस्त्रशस्त्र मात्र-बीर-हृदय का निर्माण नहीं करते, उसके निर्मायक उपकरण तो अन्तर्जगत् में छिपे रहते हैं । यदि हम अन्तर्जगत् के बँसव की अनुपयोगी सिद्ध करना चाहें तो श्वच में यन्त्रचालित काठ के पुतले भी खड़े किये जा सकते हैं । क्योंकि ज वित मनुष्य की तुलना में उनकी आवश्यकताएँ नहीं के बराबर और उपयोग सहस्रगुण अधिक रहेंगे ।

उपयोग की ऐसी ही ग्रान्ति पर तो हमारा यन्त्रयुग सड़ा है । परन्तु तार ने, हसने रोने थकने मरनेवाले मनुष्य को सोकर जो वीतराग, अपर और अमर देवता पाया है, उगने जीवन को, आत्महत्या का वरदान देने के तिरिक्त और क्या किया ! समाज और राष्ट्र में मनुष्य की स्थिति न केवल तात्कालिक है और न अनिश्चित, अतः उसके जीवन से सम्बन्ध रखने-वाले उपयोग को, अधिक व्यापक धरातल पर स्थायित्व की रेखाओं में देखना होगा ।

हृदय को शरीर पर चूना मय हम उमरे और अपने सम्बन्ध की गायत्री  
 शौचिक आशान प्रदान की मृदा पर तोलने में अगम्य ही रहेंगे ।

यदि हम बिग्री के दुरा को बड़ा लेंगे तो दूसरा भी हमारे दुश्मन में  
 बहभागी होगा, यह सामाजिक नियम न हमें स्मरण रहता है और न हम  
 स्मरण करना चाहेंगे । हमी से महानतम व्यापक के पीछे विधि-निषेधात्मक  
 नैतिकता के सम्यक् चाले रहें, परन्तु स्वयं विधि-निषेध की सतर्क धेतना  
 सम्भव नहीं रहती । सत्य बोलना उचित है, इस सिद्धान्त को गणित के नियम  
 के समान बट-बट कर जो सत्य बोलने की शक्ति पाना है वह सच्चा सत्य-  
 वादी नहीं । सत्यवादी तो उने कहेंगे जिनमें सत्य बोलना, विधि-निषेध  
 की सीमा पार कर स्वभाव ही बन चुका है । उपयोग की इस सूक्ष्म पर व्यापक  
 भूमि पर सत्य में, जैसी एवता है, स्कूल और सक्तीर्ण धरातल पर बैसी ही  
 अनेकता, इसी कारण समार भर के दासनिब, धर्म-न्यास्यापक, कवि आदि  
 के सत्य में, देशकाल और व्यक्ति की दृष्टि से विभिन्नता होने पर भी मूलगत

एकता मिलती है ।

सत्य तो यह है कि उपयोग का प्रश्न जीवन के समान ही निम्न-उन्नत, सम-विपम, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष भूमियों में समान रूप से व्याप्त है और रहेगा ।

जहां तक काव्य तथा अन्य ललित कलाओं का सम्बन्ध है वे उपयोग की उम उन्नत भूमि पर स्थायी हो पाती हैं जहां उपयोग सामान्य रह सके । करुण रागिनी, उपयोग की जिस भूमि पर है वहां यह प्रत्येक श्रोता के हृदय में एक करुण भाव जागृत करके ही सफल हो सकेगी, हर्ष या उत्साह का नहीं । व्यक्ति के सत्कार, परिस्थिति, मानसिक स्थिति आदि के अनुसार उसकी भाषाओं में न्यूनाधिक्य हो सकता है, परन्तु उसके उपयोग में इतनी विभिन्नता सम्भव नहीं कि एक में हर्ष का संचार हो और दूसरे में विषाद का उद्रेक ।

जीवन को गति देने के दो ही प्रकार हैं—एक तो बाह्य अनुशासनों का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे अन्तर्जगत् में ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देना जिससे सामंजस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे । अन्तर्जगत् में प्रेरणा बननेवाले साधनों की स्थिति, उस बीज के समान है जिसे मिट्टी को, रंग-रूप-रस आदि में व्यक्त होने की सुविधा देने के लिये स्वयं उसके अन्धकार में समाकर दृष्टि से ओझल हो जाना पड़ता है ।

विधि-निषेध की दृष्टि से महान् से महान् कलाकार के पास उतना भी अधिकार नहीं जितना चौराहे पर खड़े सिपाही की प्राप्त है । वह न किसी को आदेश दे सकता है और न उपदेश, और यदि देने की नासमझी करता भी है तो दूसरे उसे न मानकर समझदारी का परिचय देने हैं । वास्तव में कलाकार तो जीवन का ऐसा सगी है जो अपनी आत्मक-हानि में, हृदय हृदय की कथा कहता है और स्वयं चतकर पग पग के लिये पग प्रसास्त करता है । वह बौद्धिक परिणाम नहीं किन्तु अपनी अनुभूति दूसरे तक पहुँचाता है और वह भी एक विशेषता के साथ । कौटा घुमाकर पाटे का ज्ञान तो संसार दे ही देगा, परन्तु कलाकार बिना कौटा घुमाने की पीड़ा दिये हुए ही उसकी वसक की तीव्र मधुर अनुभूति दूसरे तक पहुँचाने में समर्थ है । अपने अनुभवों

को गहराई में, वह जिस जीवन-सत्य से साक्षात् करता है उसे दूसरे के लिये संवेदनीय बना कर कहता चलता है 'यह सौन्दर्य तुम्हारा ही तो है पर मैंने आज देख पाया'। जीवन को स्पर्श करने का उसका ढंग ऐसा है कि हम उसके सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, हार-जीत सब कुछ प्रसन्नतापूर्वक ही स्वीकार करते हैं—दूसरे शब्दों में हम बिना सोजने का कष्ट उठाये हुए ही कलाकार के सत्य में अपने आपको पाते हैं। दूसरे के बौद्धिक निष्कर्ष तो हम अपने भीतर उनका प्रतिबिम्ब सोजने पर बाध्य करते हैं परन्तु अनुभूति हमारे हृदय से साधारण्य करके प्राप्ति का सुख देती है।

उपदेशों के विपरीत अर्थ लगाये जा सकते हैं, नीति के अनुवाद भ्रान्त हो सकते हैं, परन्तु सच्चे कलाकार की सौन्दर्य-नृष्टि का अपरिचित रह जाना सम्भव है, बदल जाना सम्भव नहीं। मनु की जीवन स्मृतियों में अनर्थ की सम्भावना है पर बाल्मीकि का जीवन-दर्शन श्लेषहीन ही रहेगा। इसी से कलाकारों के मठ नहीं निर्मित हुए, महन्त नहीं प्रतिष्ठित हुए, साम्राज्य नहीं स्थापित हुए और सम्राट नहीं अभिषिक्त हुए। कवि या कलाकार अपनी सामान्यता में ही सबका ऐसा अपना बन गया कि समय समय पर धर्म, नीति आदि को, जीवन के निकट पहुँचाने के लिए उससे परिचय पत्र मागना पड़ा।

कवि में दार्शनिक को सोजना बहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्बन्ध है वे दोनों एक दूसरे के अधिक निकट हैं अवश्य, पर साधन और प्रयोग की दृष्टि से उनका एक होना सहज नहीं। दार्शनिक बुद्धि के निम्न-स्तर से अपनी सोज आरम्भ करके उसे मूर्धन्य बिन्दु तक पहुँचा कर सन्तुष्ट हो जाता है—उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिये वही बौद्धिक दिशा सम्भव रहे। अन्तर्जगत् का साया वैभव परख कर सत्य का मूल्य ओझने का उसे अवकाश नहीं, भाव की गहराई में डूबकर जीवन को घाह दे लेने का उसे अधिकार नहीं। वह तो चिन्तन-जगत् का अधिकारी है। बुद्धि, अन्तर का बोध कराकर एकाता का निर्देश करती है और हृदय एकाता की अनुभूति देकर अन्तर की ओर संवेत



करता है। परिणामतः चिन्तन की विभिन्न रेखाओं का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। सांख्य जिन रेखा पर बढ़कर लक्ष्य की प्राप्ति करता है वह वेदान्त को अंगीकृत न होगी और वेदान्त जिस क्रम से चलकर सत्य तक पहुँचता है उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।

काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्कप्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचाने वाली विशेष विचार-शक्ति। वह तो जीवन को, चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ, स्वीकार करती है। अतः कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है। दर्शन में, चेतना के प्रति नास्तिक की स्थिति भी सम्भव है, परन्तु काव्य में अनुभूति के प्रति अविश्वासी कवि की स्थिति असम्भव ही रहेगी। जीवन के अस्तित्व को शून्य प्रमाणित करके भी दार्शनिक बुद्धि के सूक्ष्म बिन्दु पर विधाम कर सकता है परन्तु यह अस्वीकृति कवि के अस्तित्व को डाल से टूटे पत्ते की स्थिति दे देती है।

दोनों का मूल अन्तर न जानकर ही हम किसी की कलाकार में बुद्धि की एक रूप, एक दिशावाली रेखा ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं और असफल होने पर खोश उठते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि दर्शन और कवि की स्थिति में विरोध है। कोई भी कलाकार दर्शन ही क्या धर्म, नीति आदि का विशेषज्ञ होने के कारण ही कला-सृजन के उपयुक्त या अनुपयुक्त नहीं ठहरता। यह समस्या तो तब उत्पन्न होती है जब वह अपनी कला को ज्ञानविशेष का एकांगी, शुष्क और बौद्धिक अनुवाद मात्र बनाने लगता है।

कवि का वेदान्त-ज्ञान, जब अनुभूतियों से रूप, कल्पना से रस और भावजगत् से सौन्दर्य पाकर साकार होता है तब उसके सत्य में जीवन का स्पन्दन रहेगा, बुद्धि की तर्क शृंखला नहीं। ऐसी स्थिति में उसका पूर्ण परिचय न अर्पित दे सकेगा और न विशिष्टाईत। यदि कवि ने इतनी सजीव साकारता के बिना ही अपने ज्ञान को कला के सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया तो वह विकलांग मूर्ति के समान न निरा देवता रहता है और न खोरा पाषाण। कला, जीवन की विविधता समेटती हुई आगे बढ़ती है, अतः सम्पूर्ण जीवन

को गला-पिघलाकर तर्कमूत्र में परिणत कर लेना उसका लक्ष्य नहीं हो सकता ।

दृष्टि और समष्टि में समान रूप से व्याप्त जीवन के हर्ष-शोक, आशा-निराशा, सुख-दुख आदि की संख्यातीत विविधता को स्वीकृति देने ही के लिए कला-सृजन होता है । अतः कलाकार के जीवन-दर्शन में हम उसका जीवनव्यापी दृष्टिकोण मात्र पा सकते हैं । जो सम-विषम परिस्थितियों की भोड़ में नहीं मिल जाता, सरल-कठिन सपनों के मेले में नहीं खो जाता और मधुर-बटु सुख-दुखों की छाया में नहीं छिप जाता वही व्यापक दृष्टि-कोण कवि का दर्शन कहा जायेगा । परन्तु ज्ञान-क्षेत्र और काव्यजगत् के दर्शन में उतना ही अन्तर रहेगा जितना दिशा की शून्य सीधी रेखा और अनंत रंग-रूपों से बने हुए आकाश में मिलता है ।

काव्य की परिधि में बाह्य और अन्तर्जगत् दोनों आ जाने के कारण अभिव्यक्ति के स्वरूप मतभेदों को जन्म देते रहे हैं । केवल बाह्य जगत् की यथार्थता काव्य का लक्ष्य रहे अथवा उस यथार्थ के साथ सम्भाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श भी व्यक्त हो यह प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं । यथार्थ और आदर्श दोनों को यदि चरम-सीमा पर रखकर देखा जाये तो एक प्रत्यक्ष इतिवृत्त में बिखर जायेगा और दूसरा असम्भव कल्पनाओं में बध जायगा । ऐसे यथार्थ और आदर्श की स्थिति जीवन में ही कठिन हो जाती है फिर उसकी काव्य-स्थिति के सम्बन्ध में क्या कहा जावे ।

काव्य में गोचर जगत् तो सहज स्वीकृति पा लेता है, पर स्थूल जगत् में व्याप्त घेतन और प्रत्यक्ष सौन्दर्य में अन्तर्हित सामञ्जस्य की स्थिति बहुत सहज नहीं ।

हमारे प्राचीन काव्य ने बौद्धिक तर्कवाद से दूर उस आत्मानुभूत ज्ञान की स्वीकृति दी है जो इन्द्रियजन्य ज्ञान का अन्तर्ध्यान पर उसमें अधिष्ठानिष्ठ और पूर्ण माना गया है । इस ज्ञान के आधार सत्य की तुलना, उस आकाश से की जा सकती है जो ग्रहण-क्षिति की अनुपस्थिति में अपना सत्य गुण नहीं व्यक्त करता । इसी कारण ऐसे ज्ञान की उपलब्धि आत्मा के उभ

कला है। पश्चिमात्य, चिन्तन की विभिन्न रेखाओं का समानान्तर रहना अतिवारी हो जाता है। मांस्य त्रिभुज रेखा पर बड़ातर लक्षण की प्राप्ति कला है वह वेदान्त को अंगीकृत न होगी और वेदान्त त्रिभुज त्रय में बड़ातर लक्षण तक पहुँचता है उसे योग स्वीकार न कर लेगा।

काव्य में बुद्धि हृदय में अनुगागित रहकर ही गतिवता पाती है इसी में उगता दर्शन न बौद्धिक तार्किकताकी है और न गूढम बिन्दु तक पहुँचाने वाली त्रिभुज विचार-गति। यह तो जीवन को, भेदना और अनुभूति के समस्त घेराव के साथ, स्वीकार करती है। अतः कवि या दर्शन, जीवन के प्रति उगरी आस्था का दूसरा नाम है। दर्शन में, चेतना के प्रति नास्तिक की स्थिति भी सम्भव है, परन्तु काव्य में अनुभूति के प्रति अविरोधवादी कवि की स्थिति अगम्य ही रहेगी। जीवन के अस्तित्व को शून्य प्रमाणित करके भी दार्शनिक बुद्धि के गूढम बिन्दु पर विश्राम कर सकता है परन्तु यह अस्वीकृति कवि के अस्तित्व को डाल से टूटे पत्ते की स्थिति दे देती है।

दोनों का मूल अन्तर न जानकर ही हम किसी की कलाकार में बुद्धि की एक रूप, एक दिशावाली रेखा बूढ़ने का प्रयास करते हैं और असफल होने पर सीमा उठते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि दर्शन और कवि की स्थिति में विरोध है। कोई भी कलाकार दर्शन ही क्या धर्म, नीति आदि का विशेषज्ञ होने के कारण ही कला-गूढ़न के उपयुक्त या अनुपयुक्त नहीं ठहरता। यह समस्या तो तब उत्पन्न होती है जब वह अपनी कला को ज्ञानविशेष का एकांगी, शुष्क और बौद्धिक अनुवाद मात्र बनाने लगता है।

कवि का वेदान्त-ज्ञान, जब अनुभूतियों से रूप, कल्पना से रंग और भावजगत् से सौन्दर्य पाकर साकार होता है तब उसके सत्य में जीवन का स्पन्दन रहेगा, बुद्धि की तर्क शृंखला नहीं। ऐसी स्थिति में उसका पूर्ण परिचय न अद्वैत दे सकेगा और न विशिष्टाद्वैत। यदि कवि ने इतनी सजीव साकारता के बिना ही अपने ज्ञान को कला के सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया तो वह विकलांग मूर्ति के समान न निरा देवता रहता है और न कोरा पापाण। कला, जीवन की विविधता समेटती हुई आगे बढ़ती है, अतः सम्पूर्ण जीवन

को गला-पिघलाकर तरुंमूत्र में परिणत कर लेना उसका लक्ष्य नहीं हो सकता ।

व्यष्टि और समष्टि में समान रूप में व्याप्त जीवन के हर्ष-शोक, आशा-निराशा, सुख-दुख आदि की सरपातीत विविधता को स्वीकृति देने ही के लिए कला-सृजन होता है । अतः कलाकार के जीवन-दर्शन में हम उसका जीवनव्यापी दृष्टिकोण मात्र पा सकते हैं । जो सम-विषम परिस्थितियों को भीड़ में नहीं मिल जाता, सरल-कठिन राधियों के मेले में नहीं खो जाता और मधुर-कटु सुख-दुखों की छाया में नहीं छिप जाता वही व्यापक दृष्टिकोण कवि का दर्शन कहा जायेगा । परन्तु ज्ञान-क्षेत्र और काव्यजगत् में दर्शन में उतना ही अन्तर रहेगा जितना दिशा की शून्य सीधी रेखा और अन्तर-रूपों से बने हुए आकाश में मिलता है ।

काव्य की परिधि में बाह्य और अन्तर्जगत् दोनों आ जाने के कारण अभिव्यक्ति के स्वरूप मतभेदों को जन्म देते रहे हैं । केवल बाह्य जगत् को यथार्थता काव्य का लक्ष्य रहे अथवा उस यथार्थ के साथ सम्भाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श भी ध्येय हो यह प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं । यथार्थ और आदर्श दोनों को यदि चरम-सीमा पर रखकर देखा जाये तो एक प्रत्यक्ष द्विबृत्त में बिखर जायेगा और दूसरा अमम्मय कल्पनाओं में बंध जायगा ऐसे यथार्थ और आदर्श की स्थिति जीवन में ही कठिन हो जाती है कि उनकी काव्य-स्थिति के सम्बन्ध में क्या कहा जावे ।

काव्य में गोचर जगत् तो सहज स्वीकृति पा लेता है, पर स्थूल जगत् में व्याप्त चेतन और प्रत्यक्ष सौन्दर्य में अन्तर्हित सामञ्जस्य की स्थिति बहुत सहज नहीं ।

✓ हमारे प्राचीन काव्य ने बौद्धिक तर्कवाद से दूर उस आध्यात्मिक ज्ञान को स्वीकृति दी है जो इन्द्रियजन्य ज्ञान का अनायास पर उभरे अधिनिश्चय और पूर्ण माना गया है । इस ज्ञान के आधार साथ ही तुलना, उपासना से भी आसक्त है जो ग्रहण-शक्ति की अनुपस्थिति में अपना रास्ता नहीं खोज पाता । इसी कारण ऐसे ज्ञान की उपलब्धि आत्मा के उ-

संस्कार पर निर्भर है, जो सामान्य गण्य को विशिष्ट गीमा में ग्रहण करने की शक्ति भी देता है और उस गीमिन ज्ञानानुभूति को जीवन की व्याप्त पोटिका देने वाला मोन्दपंचोप भी गहज कर देता है ।

जैसे रूप, रस, गन्ध आदि की स्थिति होने पर भी करण के अन्तर्गता में, कर्मी उनका ग्रहण सम्भव नहीं होता और कर्मी वे ग्रहण किये जाते हैं, वैसे ही, आत्मानुभूत ज्ञान, आत्मा के संस्कार की शक्ति और उससे उत्पन्न ग्रहण-शक्ति को गीमा पर निर्भर रहेगा । ब्रह्म को प्रत्यक्ष या मर्नापी कहने वाले युग के गामने यही निश्चित तर्कक्रम से स्वतन्त्र रहा ।

साय इम ज्ञान का बँसा हो अज्ञात सम्बन्ध और अव्यक्त स्पर्श है जैसा प्रकृति ने प्रत्यक्ष और प्रशान्त निस्तब्धता के माय आधी के अव्यक्त पूर्वाभास का ले सकता है, जो स्थितिहीनता में भी स्थिति रखता है। इसके अव्यक्त स्पर्श का अनुभव कर अनेक बार मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण, बौद्धिक निष्कर्ष और अनुभूति परिस्थितियों को सोमाएं पार कर लेने के लिये विवश हो उठता है। बँडोर विज्ञानवादी के पास भी ऐसा बहुत कुछ बच जाता है जो कार्य कारण से नहीं बाँधा जा सकता, स्थूलता के पक्वान्त उपासक के पास भी बहुत कुछ शेष रह जाता है जो उपयोग की कमौटी पर नहीं परता जा सकता और यदि केवल मर्यादा ही महत्त्व रखती हो तो समार के सब कोनों में ऐसे व्यक्तियों की स्थिति सम्भव हो सकती है जो आत्मानुभूत ज्ञान का अस्तित्व मिट कर रहे।

अगोचर जगत् से सम्बन्ध रखनेवाली रहस्यानुभूति की स्थिति भी ऐसी ही है। जहाँ तक अनुभूति का प्रश्न है वह तो स्थूल और गोचर जगत् में भी सामान्य नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि फूल को फूल ग्रहण कर ले या स्वाभाविक है, परन्तु सबके अन्तर्जगत् में अनुभूति एक ही स्थिति नहीं पकती। अपने मस्तार, रश्मि, सवेदनशीलता के अनुसार कोई फूल में तादात्म्य प्राप्त करके भाव-तन्मय हो मरेगा और कोई उदामीन दर्शक मात्र रु जायेगा। स्थूल जगत् के सम्पर्क का रूप भी अनुभूति की मात्रा निश्चित क सकता है। जिसने अगारे उठा उठा कर हाथ को बँडोर कर लिया है उमकें उगलिया अगारे पर पड़कर भी जलने की तीव्र अनुभूति नहीं उत्पन्न करेगी।

पर जिसका हाथ अचानक अगारे पर पड़ गया है उसे छाले का तीव्र समांनुभव करना पड़ेगा। जिसने बाँटो पर लेटने का अभ्यास कर लिया। उसके धरीर में अनेक बाँटो का स्पर्श तीव्र धमका नहीं उत्पन्न करता, पर जलने-बलने अचानक बाँटो पर पैर रख देता है उसके लिये एक बाँटो ही तीव्र-दुःखानुभूति का कारण बन जाता है।

परन्तु इन सब क्षणिक अनुभूतियों के पीछे हमारे अन्तर्जगत् में एक ऐसा ध्यापक, अव्यक्त और मवेदनात्मक धरातल भी है जिस पर गारी बिबिध

सरकार पर निर्भर है, जो सामान्य गण को विशिष्ट नीति में प्रवृत्त करने की क्षमता भी देता है और उस नीतिगत ज्ञानानुभूति को जीवन की व्यापक गतिविधि देने वाला गौणमंचोप भी गठन कर देता है।

जैसे रण, रण, गण आदि की निर्धारित होने पर भी कारण के अभाव में अपूर्णता में, सभी उनका प्रवृत्त सम्भव नहीं होता और सभी से अपूर्ण रहन बचने जाते हैं, जैसे ही, आत्मानुभूति ज्ञान, आत्मा के सरकार की मात्रा और उमरे उन्नत प्रवृत्त-क्षिति की नीति पर निर्भर रहेगा। बचि को प्रवृत्त में मनीषी करने वाले युग के सामने यही निश्चित तर्कक्रम में स्वतंत्र ज्ञान पड़ा।

यह ज्ञान व्यक्ति-सामान्य नहीं, यह बहतर हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष जगत्-सम्बन्धी ज्ञान भी इतना सामान्य नहीं। वे ज्ञान का भौतिक ज्ञान ही नहीं नित्य का व्यवहार-ज्ञान भी व्यक्ति की उपेक्षा नहीं छोड़ता। व्यक्तिगत रचि, सरकार, पूर्वाजित ज्ञान, ज्ञान-रूपों की पूर्णता अपूर्णता अभाव आदि मिलकर स्पष्ट जगत् के ज्ञान को इतनी विविधता देने रहते हैं कि हम व्यक्ति के महत्व में ज्ञान का महत्व निश्चित करने पर बाध्य हो जाते हैं। जो ऊँचा मुनता है या जो स्टेपेस्कोपी सहायता से फेंकड़ों का अस्पष्ट शब्द मात्र मुनता है वे दोनों ही हमारे सामजस्य के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं दे सकते। पर जो आहूति ध्वनि से लेकर मेघ के गर्जन तक सब स्वर सुनने की क्षमता भी रखता है और विभिन्न स्वरो में सामजस्य लाने की माधुर्य भी कर चुका है वह इस दिशा में हमारा प्रमाण है।

समाज, नीति आदि से सम्बन्ध रखने वाले इन्द्रियानुभूत ज्ञान ही नए सूक्ष्म बौद्धिक ज्ञान के सम्बन्ध में भी अपने से अधिक पूर्ण व्यक्तियों के प्रमाण मानकर मनुष्य विकास करता आया है। अतः अध्यात्म के सम्बन्ध में ही ऐसा तर्कवाद क्यों महत्व रखेगा? फिर यह आत्मानुभूत ज्ञान इतना विविध भी नहीं जितना समझा जाता है। साधारणतः तो प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी अंश तक इसका उपयोग करता रहता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के

हाथ इस ज्ञान का वैसा ही अज्ञात सम्बन्ध और अव्यक्त स्पर्श है जैसा प्रकृति की प्रत्यक्ष और प्रशान्त निस्तब्धता के साथ आधी के अव्यक्त पूर्वाभास का हो सकता है, जो स्थितिहीनता में भी स्थिति रखता है। इसके अव्यक्त स्पर्श का अनुभव कर अनेक बार मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण, बौद्धिक निष्कर्ष और अनुकूल परिस्थितियों की सीमाएँ पार कर लेने के लिये विवश हो उठता है।  
 कठोर विज्ञानवादी के पास भी ऐसा बहुत कुछ बच जाता है जो कार्य-कारण से नहीं बाँधा जा सकता, स्थूलता के एकान्त उपग्रह के पास भी बहुत कुछ शेष रह जाता है जो उपयोग की कमौटी पर नहीं परखा जा सकता। और यदि केवल मरुपा ही महत्त्व रखती हो तो संसार के सब कोनों में ऐसे व्यक्तियों की स्थिति सम्भव हो सकी है जो आत्मानुभूत ज्ञान का अस्तित्व मिट्ट कर रहे।

अगोचर जगत् से सम्बन्ध रखनेवाली रहस्यानुभूति की स्थिति भी ऐसी ही है। जहाँ तक अनुभूति का प्रश्न है वह तो स्थूल और गोचर जगत् में भी सामान्य नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि फूल को फूल ग्रहण कर ले यह स्वाभाविक है, परन्तु सबके अन्तर्जगत् में अनुभूति एक ही स्थिति नहीं पसकती। अपने मस्कार, रश्चि, संवेदनशीलता के अनुसार कोई फूल में तादात्म्य प्राप्त करके भाव-तन्मय हो सकेगा और कोई उदासीन दर्शक मात्र रह जायेगा। स्थूल जगत् के सम्पर्क का रूप भी अनुभूति की मात्रा निर्दिष्ट कर सकता है। जिसने अगारे उठा उठा कर हाथ को कठोर कर लिया है उसकी उँगलियाँ अगारे पर पड़कर भी जलने की तीव्र अनुभूति नहीं उत्पन्न करेंगी।

पर जिसका हाथ अचानक अगारे पर पड़ गया है उसे छाले का तीव्र मर्मानुभव करना पड़ेगा। जिसने बाँटो पर लेटने का अभ्यास कर लिया है उसके शरीर में अनेक बाँटो का स्पर्श तीव्र ध्येया नहीं उत्पन्न करता, पर जे चटने-खलते अचानक बाँटो पर पैर रख देता है उसके लिये एक बाँटो ही तीव्र-दुःखानुभूति का कारण बन जाता है।

परन्तु इन सब खण्डित अनुभूतियों के पीछे हमारे अन्तर्जगत् में एक ऐसा व्यापक, अखण्ड और सवेदनात्मक धरातल भी है जिस पर सारी विविध



पा. ०८९ सरावा ह। काव्य इसा का स्पशकर संवेदनीयता प्राप्ति का  
 है। इसी कारण जिन सुख-दुखों की प्रत्यक्ष स्थिति भी हमें तोत्र अनुभू  
 ही देता उन्हीं की काव्य-स्थिति से सादात् कर हम अस्थिर हो उठते हैं  
 व्यापक अर्थ में तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्ये  
 सामंजस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौन्दर्य-अदा या सा  
 स्त-खण्ड हमारे सामने किसी व्यापक सौन्दर्य या अखण्ड सामंजस्य क  
 र नहीं खोल देता तो हमारे अन्तर्जगत् का उल्लास से आन्दोलित ह  
 ठना सम्भव नहीं। इतना ही नहीं किसी कर्म के सौन्दर्य और सामंजस्य की  
 अनुभूति भी रहस्यात्मक हो सकती है, इसी से मनुष्य ऐसे कर्मों को आलोच  
 म्भ घना बनाकर जीवन-पथ में स्थापित करता रहा है।  
 सौन्दर्य अपने समर्थन के लिये जिम सामंजस्य की ओर इंगित करता है  
 रूपता भी अपने विरोध के लिये उसी की ओर संकेत करती है, पर दोनों  
 संकेत में अन्तर है। प्रत्येक सौन्दर्य-खण्ड अखण्ड सौन्दर्य से जुड़ा है और इन  
 ह हमारे हृदयगत सौन्दर्य-बोध से भी जुड़ा है, पर विरूप, व्यापक सामं  
 ज्य का विरोधी होने के कारण हमारे भीतर कोई स्वभावगत स्थिति ना  
 सुं रखता। सौन्दर्य से हमारा वह परिचय है जो अनन्त जलराशि में ए  
 हर का दूसरी लहर से होता है पर विरूपता से हमारा बँसा मिलन।  
 सा पानी में फँके हुए पत्थर और उससे उठी लहर में सहज है। सौन्दर्य  
 पर परिचय में भी नवीन है पर विरूपता अति परिचय में नितान्त साध  
 -न जाती है; इसी से सौन्दर्य की रहस्यानुभूति ही, अन्तहीन काव्यसा

बनुमार ही मोहने-मोहने का कार्य करने चाने हैं, अब वहीं चट्टान पर मुनार की हथोड़ी का हवा स्पर्श होता है और वही राग के ढेर पर मोहार के हथोड़े की गहरी छोट । क्या सम्भूति, क्या आदर्श, सबम हमारी शक्तियों का विभिन्न जैसा प्रयोग है, इसी में जो टूट जाता है वह हमारी ही ओम्में की बिरबिरी बनने के लिए वायुमण्डल में महराने लगता है और जो हमारे प्रहार में नहीं शिखरता, वह विषम तथा विषय बनकर हमारे ही पैरों को आहत और गति को कुण्ठित करना रहता है । निर्माण की दिशा में किसी सामूहिक लक्ष्य के अभाव में व्यक्तिगत प्रयाग, अराजकता के आन्तरिक उदाहरणों में अधिक महत्व नहीं पाने ।

किसी भी उत्थानशील समाज और उसके प्रबुद्ध कलाकारों में जो सन्नित्य सहयोग और परस्पर पूरक आदान-प्रदान स्वाभाविक है वह हमारे समाज के लिए बलानावीन बन गया । समाज को एक बिन्दु पर अचलता और कलाकार की छद्महीन गति-विह्वलता ने उसे एक प्रकार से असामाजिक प्राणी की स्थिति में डाल दिया है ।

प्रत्येक मच्चे कलाकार की अनुभूति, प्रत्यक्ष गत्य ही नहीं अप्रत्यक्ष मन्द्य का भी स्पर्श करती है, उमका स्वप्न, वर्तमान ही नहीं अनागत को भी स्पर्शों में बाधता है और उमकी भावना यथार्थ ही नहीं सम्भाव्य यथार्थ को भी मूर्तिमत्ता देती है । परन्तु इन सबको, व्यष्टिगत और अनेकरूप अभिव्यक्तिदा दूररो तक पहुँचकर ही तो जीवन की समष्टिगत एकता का परिचय देने में समर्थ है ।

कलाकार के निर्माण में जीवन के निर्माण का लक्ष्य छिपा रहता है, जिसकी स्वीकृति के लिये जीवन की विविधता आवश्यक रहेगी । जब समाज उमके किसी भी स्वप्न का मूल्य नहीं आकता, किसी भी आदर्श को जीवन की बमौटी पर परखना स्वीकार नहीं करता, तब साधारण कलाकार तो सब कुछ धूल में फेंक कर रुठे बालक के समान शोभ प्रकट कर देता है और महान्, समाज की उपस्थिति ही भुलाने लगता है । हमारी कला के क्षेत्र में जो एक अच्छा-खल गति है उसके मूल में निर्माण की सन्तुलित सन्नित्यता

अधिक, विपश्चिन्ता की अस्थिरता ही मिलेगी ।

एक ओर समाज पक्षाघात से पीड़ित है और दूसरी ओर धर्म विक्षिप्त । क चल ही नहीं सकता, दूसरा वृत्त के भीतर वृत्त बनाता हुआ एक पैर से ढ़ लगा रहा है । गम और ठण्डे जल से भरे पात्रों की निरुत्तता जैसे उनका अपमान एकता कर देती है उमी प्रकार हमारे धर्म और समाज की सापेक्ष स्थिति उन्हें एक-सी निर्जीवता देती रहती है । आज तो बाह्य और आन्तरिक सृष्टि ने धर्म को ऐसी परिस्थिति में पहुँचा दिया है जहाँ रुद्धिप्रस्त रहने का मू मिष्टा और रोतिकालीन प्रवृत्तियों की चंचल जोड़ा ही गतिशीलता है । तना ही नहीं, इस स्वर्ग के सहृदय का दारिद्र्यमान-अर्थ बन गया है । कलाकार दि धर्म के क्षेत्र में प्रवेश चाहे तो उसे हाथी पर गगा-यमुनी काम की अम्बारी । जाज़ा होगा जो उसकी निर्धनता में सम्भव नहीं । २१५ घण

हमारी सृष्टि ने धर्म और कला का ऐसा ग्रन्थिबन्धन किया-या तो जीवन से अधिक मृत्यु में दूँड हाता गया । क्या काव्य, क्या मूर्ति, क्या चित्र सबकी यथार्थ रेखाओं और स्थूल रूपों में अध्यात्म ने सूक्ष्म आदर्शों की प्रतिष्ठा की । परन्तु जब ध्वस के असह्य स्तरो के नीचे दबकर वह अध्यात्म-स्पन्दन रुक गया तब धर्म के निर्जीव काल में हमें मृत्यु का ठंडा पक्ष मिलने लगा । ५२ मृत्यु का

शरीर को चलानेवाली चेतना का अशरीरी गमन तो प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु उसके अभाव में अचल शरीर का गल-गल कर नष्ट होना प्रत्यक्ष भी रहेगा और वातावरण को दूषित भी करेगा । समन्वयात्मक अध्यात्म कब खो गया यह तो हम न जान सके परन्तु व्यावहारिक धर्म ही विविध विकृतियाँ हमारे जीवन के साथ रही। ऐसी स्थिति में काव्य या कलाओं की स्वस्थ गतिशीलता असम्भव हो उठी । निर्माणयुग में तो कलासृष्टि अमृत की सजीवनी देकर ही सफल हो सकती थी वही,

५ में मदिरा की उत्तेजनामात्र बनकर विकासशील मानी गई ।

५ का उपयोग तो स्वयं को भुलाने के लिये है, स्मरण करने के लिये और जीवन का सृजनात्मक विकास अपनेपन की चेतना में ही संभव

हैं। परिणामतः कलाएँ और काव्य जगे-जैसे हममें विक्षिप्त की चेष्टायें करने लगे वैसे-वैसे हम विक्रामपथ पर लक्ष्यग्राह्य होते गये।

जागरण के प्रथम चरण में हमारी राष्ट्रीयता ने अपनी व्यापकता के लिये जिम अध्यात्म का आह्वान किया, काव्य ने सौन्दर्य-काया में उमी की प्राण-प्रतिष्ठा करदी। कवि ने धर्म के धरातल पर किसी विकृत रुढ़ि को स्वीकार नहीं किया परन्तु सक्रिय विरोध के साधनों का अभाव-ना रहा।

कुछ ने सम्प्रदायों की मंकीर्णता से बाहर रहकर, आदर्श-चरित्रों को नवीन रूपरेखा में ढाला और द्रुम प्रकार पुरानी सांस्कृतिक परम्परा और नई लोक-भावना का समन्वय उपस्थित किया। कुछ ने धर्म के मूलगत अध्यात्म को, व्यक्तिगत साधना के उम धरातल पर स्थापित कर दिया जहाँ वह हमारे अनेकरूप जीवन की, अरुण एकता का आधार भी बन सका और सौन्दर्य की विविधता की व्यापक पीछिया भी।

कुछ ने उसे स्वीकार ही नहीं किया, परन्तु उसके स्थान में किसी अन्य व्यापक आदर्श की प्रतिष्ठा न होने के कारण यह अस्वीकृति एक उच्छृंखल विरोध-प्रदर्शन मात्र रह गई। नास्तिकता उमी दशा में सृजनात्मक विक्राम दे सकती है जब ईश्वरता में अधिक सजीव और सामञ्जस्यपूर्ण आदर्श जीवन के साथ चलता रहे। जहाँ केवल अविश्वाम ही उमका सम्बल है वहाँ वह जीवन के प्रति भी अनास्था उत्पन्न किये बिना नहीं रहती। और जीवन के प्रति अविश्वामी व्यक्ति का, सृजन के प्रति भी अनास्थावान हो जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति का अन्तिम और अवश्यम्भावी परिणाम, जीवन के प्रति व्यर्थता की भावना और निराशा ही होती है। हमीमे सच्चा कवि या कलाकार किसी न किसी आदर्श के प्रति आस्था-वान रहेगा ही।

धर्म ने यदि अपने आपको रूप के समान पथरो में बाध दिया है तो राजनीति ने धरती के ढाल पर पड़े पानी के में विभक्त होकर शक्ति को बिखरा डाला है।

## आदर्श आलोचना

पिछले पच्चीस वर्षों में विश्व के राजनीतिक जीवन में जो-जो आदर्श उपस्थित किये गये उनमें से एक को भी अभी तक पूर्ण विकास का अवसर नहीं मिल सका। पुराना पर स्वार्थी साम्राज्यवाद, नवीन पर क्रूर नात्सीरम और फासिज्म, अध्यात्म-प्रधान गांधीवाद, जनसत्तात्मक साम्यवाद, समाजवाद आदि सब रेल के तीसरे दर्जे के छोटे डब्बे में ठमाठस भरे उन यात्रियों जैसे हो रहे हैं, जो एक दूसरे के सिर पर सवार होकर ही खड़े रहने का अवकाश और लड़ने-झगड़ने में ही मनोरंजन के साधन पा सकते हैं। इनमें से मानव-कल्याण पर केन्द्रित विचारधाराओं को भी शताब्दियों तो दूर रही अभी विकास के लिए पचास वर्ष भी नहीं मिल सके। एक की सीमाएँ स्पष्ट हुए बिना ही दूसरी अपने लिए स्थान बनाने लगती हैं और इसी प्रकार विश्व का राजनीतिक जीवन परस्पर-विरोधी शक्तियों का मेला मात्र रह गया है।

हमारा राजनीतिक वातावरण भी कुछ कम विषम और छिन्न-भिन्न नहीं। वास्तव में हमारी राष्ट्रीयता जनता की पुनी होने के साथ-साथ धर्म और पूजा की पोष्यपुत्री भी तो है, अतः दोनों ओर के गुण-अवगुण उभे उत्तराधिकार में मिलते रहे हैं। उगकी छाया में धार्मिक विरोध भी पनपने और आर्थिक भ्रष्टाचार में उत्पन्न बौद्धिक मतभेद भी विभाग पाने रहे।

इसके अतिरिक्त हमारी राष्ट्रीयता की गतिशीलता के लिए आध्यात्मिक पराजय पर भी एक सैनिक-भाग्यमय अपेक्षित था और सैनिक-भाग्यमय को कुछ अपनी सीमाएँ रहेंगी ही। मेला में सब ओर और जय के विश्वासों की रहें ऐसी सम्भावना गल्प नहीं हो सकती। पर जो व्यक्ति स्वार्थ या पराजय के लिए, विषमता या अन्तर की प्रेरणा से, स्वार्थ की अगुविषय या आदर्शों की बेतना के कारण, मेला की परिधि में आ गये उन सभी को बाह्य-वेगमूला और गति की दृष्टि से एक-सा रहना पड़ेगा। इस प्रकार सैनिक-भाग्यमय में बाह्य एकता का जो महत्त्व है वह आन्तरिक नहीं। और यह दृष्टि हमारी राष्ट्रीयता में भी अन्तर्गत है, नहीं।



कूद मचाती रहती हैं। विषमताओं से उत्पन्न और गंभीरता में पोषित स्वभाव को इस युग की विशेषताओं ने ऐसा रूप दे दिया है जिसमें पुराना स्वार्थ घनीभूत है और नवीन ज्ञान पुनीभूत।

विज्ञान के चरम विकास ने हमारी आधुनिकता को एकांगी बुद्धिवाद में इस तरह सीमित किया कि आज जीवन के किसी भी आदर्श को उसके निरपेक्ष सत्य के लिए स्वीकार करना कठिन है। परिणामतः एक निस्सार बौद्धिक उल्लस ही हमारे हृदय की सम्पूर्ण सरल भावनाओं में अधिक सारवती जान पड़े तो आश्चर्य ही क्या है। इस ज्ञान-व्यवसायी युग में बिना व्यायी पूजा के ही सिद्धान्तों का व्यापार सहज हो गया है, अतः न अब हमें किसी विश्वास का खरापन जाचने के लिए अपने जीवन को कसौटी बनाना पड़ता है और न किसी आदर्श का मूल्य आकने के लिए जीवन की विविधता मिश्रण की आवश्यकता होती है। हमारा बिखरा जीवन इतना व्यक्तिप्रधान कि प्रायः वैयक्तिक भ्रान्तिया भी समष्टिगत सत्य का स्थान ले लेती हैं और स्वार्थ साधन के प्रयास ही व्यापक गतिशीलता के पर्याय बन जाते हैं। जहां तक जीवन का प्रश्न है, उसे सजीवता के वैभव में देखने का न द्विवादी को अवकाश है और न इच्छा। वह तो उसे दर्पण की छाया समान स्पर्श से दूर रख कर देखने का अभ्यास करते-करते स्वयं इतना लिप्त हो गया है कि उसे ज्ञान का रेजिस्टर मात्र कहना चाहिए। जीवन व्यापक स्पन्दन से वह जितना दूर हटता जाता है उतना ही विकास मूलतत्त्वों से अपरिचित बनता जाता है। और अन्त में उसका भारी अज्ञानात्मक ज्ञान उसी के जीवन की उष्णता को ऐसे दबा देता है जैसे टीसी चिनगारी को राख का ढेर। आज की आवश्यकताओं के अनुसार संसार भर के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञातव्य जानता है। परन्तु अपनी तो की अनुभूति के बिना यह ज्ञान-बीज घुनते रहने के लिए ही उसके तत्त्व की सारी सीमा घेरे रहते हैं।

हमारे बुद्धिजीवी वर्ग में अधिकांश तो मानसिक हीनता की भावना ही पलते और बढ़ते हैं। उनका बाह्य-जीवन ही समुद्र-पार के कतरे





पर, बु।

घना

समय है धामक का दुःख और अवस्थित रहना उनता ही निश्चित ।  
नैतिकता की दृष्टि से भी धम मनुष्य को नीचे गिरने की इतनी सुविधा  
उही देना जितनी बुद्धि दे सकती है, क्योंकि धमिक के धम के साथ उमका  
आत्मा का विक जाना समाप्य ही है, परन्तु बुद्धि-विप्रेता की तुला  
र उसको आत्मा का चढ़ जाना अनिवार्य रहता है ।

धम की स्फूर्तिदायक पवित्रता के कारण ही सब देशों में सब युगों  
सन्देशवाहक और साधक उसे महत्त्व दे सके हैं । अनेक तो जीवन के  
आदि से अन्त तक उसी को आजोविका का साधन बनाये रहे । इस प्रकार  
जहा कही जीवन की स्वच्छ और स्वाभाविक गति है वहां धम की किना  
न किसी रूप में स्थिति आवश्यक रहती है ।

अभाव ने हमारे धमजीवी जीवन का समस्त सौन्दर्य नष्ट कर दिया है ।  
यह स्वाभाविक भी था । जिस मिट्टी से घर बना कर हम आँधी, पानी, धूप,  
अघट आदि से अपनी रक्षा करते हैं वही जब अपनी निश्चित स्थिति छो-

कर हमारे ऊपर ढह पड़ती है तब बजपात से कम सहारक नहीं होती  
इस मानव-समष्टि में ज्ञान के अभाव ने हड्डियों को अतल गहराई दे दी है  
यह मिथ्या नहीं और अर्थव्यपम्य ने इसकी दयनीयता को असीम बना डाला  
है यह सत्य है, परन्तु सब कुछ कह गुन चुकने पर इतना तो स्वीकार करना  
ही होगा कि धम का यह उपासक, केवल बुद्धि-व्यापारी से अधिक स्वाभा-  
विक मनुष्य भी है और जातीय गुणों का उससे अधिक विद्वत्सनीय रक्षक  
ते । इतना ही नहीं, युगों से सूक्ष्म परिष्कार और सीमित विस्तार  
नेवाली, नृत्य, गीत, चित्र आदि कलाओं के मूल रूप में भी वह सजोये है  
र उपयोगी सिल्पों की विविध व्यावहारिकता भी वह सभाले है । जीवन  
चर्प में टहरने की वह जितनी क्षमता रखता है उतनी किसी बुद्धिवादी  
समभव नहीं है । वास्तव में उसके पारस-प्रासाद के लिए बुद्धिजीवी ही  
विभीषण बन गया अन्यथा उसके जीवन में, विकृतियों की इतनी वि-

उप बग ब अक्षर आर वृत्तमता न उगग पारपत्र अगभव बर । दया पा और निम्न में उत्तरनं पर उन्हें आभिजात्य के गो जाने का भय था । पण्डितों ने अपने एकाकीपन के दान्य को अपनी ही प्यास की आग और निराशा के दावे से इस तरह भर दिया कि उनका हर स्वप्न मुकुलित होने ही लग्न गया और प्रत्येक आदर्श अंकुशित होने ही छिट्टर चला ।

बीज केवल अकेले रहने के लिए, अन्य बीजों की समष्टि नहीं छोड़ता । यह नूतन समष्टि सम्भव करने के लिए ही ऐंगी पृथक् स्थिति स्वीकार करता है । यदि वही बीज पुरानी धरती और गनात्मन आवास की अवज्ञा करके, अपनी असाधारणता बनाये रखने के लिए वायु पर उड़ता ही रहे तो मगार के निकट अपना साधारण परिचय भी खो बैठेगा ।

बवि, बलाकार, साहित्यकार सब, समष्टिगत विशेषताओं को नव नव रूपों में साकार करने के लिए ही उससे कुछ पृथक् खड़े जान पड़ते हैं, परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को जीवन की व्यापकता में साधारण न बना सकें तो आश्चर्य की वस्तु मात्र रह जायेंगे । महान् से महान् बलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर, एक परिचयभर

संभव है श्रमिक का दुःख और व्यवस्थित रहना उनता ही निश्चित नैतिकता की दृष्टि से भी श्रम मनुष्य को नीचे गिरने की इतनी सुविधा नहीं देता जितनी बुद्धि दे सकती है, क्योंकि श्रमिक के श्रम के साथ उसकी आत्मा का विक जाना सभाव्य ही है, परन्तु बुद्धि-विश्रेता की तुलना उसकी आत्मा का चढ जाना अनिवार्य रहता है।

श्रम की स्फूर्तिदायक पवित्रता के कारण ही सब देशों में सब आदि से अन्त तक उसी को आजीविका का साधन बनाये रहे। अनेक तो जीवन जहाँ कही जीवन की स्वच्छ और स्वाभाविक गति है वहाँ श्रम की किमी केवल श्रम ही श्रम के भार और विग्राम देने वाले साधनों के नितान्त भाव ने हमारे श्रमजीवी जीवन का समस्त सौन्दर्य नष्ट कर दिया है।

स्वाभाविक भी था। जिस मिट्टी से घर बना कर हम आँधी, पानी, धर आदि से अपनी रक्षा करते हैं वही जब अपनी निश्चित स्थिति छ कर हमारे ऊपर ढह पड़ती है तब वज्रपात से कम सहारक नहीं होती। इस मानव-समष्टि में ज्ञान के अभाव ने रुद्धियों को अतल गहराई दे दी। ह मिथ्या नहीं और अर्थवैषम्य ने इसकी दयनीयता को असोम बना डाला। यह सत्य है, परन्तु सब कुछ कह मुन चुकने पर इतना तो स्वीकार करना होगा कि श्रम का यह उपासक, केवल बुद्धि-व्यापारी ने अधिक स्वाभा-

विक मनुष्य भी है और जातीय गुणों का उमने अधिक विस्वगनीय रसाक भी। इतना ही नहीं, मुणों से शूद्रम परिवार और सीमित विस्तार पानेवाली, नृत्य, गीत, चित्र आदि कलाओं के मूल रूप में भी वह सज्जोवे है और उपयोगी निलों की विविध व्यावहारिकता भी वह सभाले है। जीवन के सपर्य में टहरने की बट जितनी क्षमता रखता है उतनी किमी बुद्धिवादी में समन नहीं है। वाग्यन में उगने पारन प्रागाद के जिन बुद्धिवादी विभीषण बन गया अन्यथा उमने जीवन में, विद्वानों की इतनी दिगारी

ना का प्रवेश, सहज न हो पाता ।

हमारे कवि, कलाकार आदि बुद्धिजीवियों के विभिन्न स्तरों में उत्पन्न हुए और वही पले हैं । अतः अपने वर्ग के रसकारों का अशभागी और गुण-मवगुणों का उत्तराधिकारी होना, उनके लिए स्वाभाविक ही रहेगा । उनके मस्तिष्क ने अपने वातावरण की विषमता का ज्ञान, बहुत विस्तार में मधिन किया और उनके हृदय ने व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुखों को बहुत तीव्रता से अनुभव किया । विभिन्न रसकारों की धूप-छाया, विविधता, भारी भाव-भूमि और चिन्तन की अनेक दिशाओं ने मिल कर उनके जीवन को एक सीमित स्थिति दे दी थी । परन्तु उस एक स्थिति को सम्पूर्ण वाता-वरण में सापेक्षता देने के लिए समष्टि का वही स्पष्ट अपेक्षित या जो फूल को समीर से मिलता है—मजीब, निश्चित पर व्यापक । जिस समाज में उनकी स्वाभाविक स्थिति थी वह विषमताओं में बिखर चुका था, उसमें ऊँचे वर्ग के अहंकार और कृत्रिमता ने उससे परिचय असम्भव कर दिया था और निम्न में उतरने पर उन्हें आभिजात्य के खो जाने का भय था । फलतः उन्होंने अपने एकाकीपन के दूग्य को अपनी ही प्यास की आग और निराशा के पाले से इस तरह भर लिया कि उनका हर स्वप्न मुकुलित होते ही झुलस गया और प्रत्येक आदर्श अकुरित होते ही ठिठुर चला ।

बीज केवल अकेले रहने के लिए, अन्य बीजों की समष्टि नहीं छोड़ता । यह होता नूतन समष्टि सम्भव करने के लिए ही ऐसी पृथक् स्थिति स्वीकार करता है । यदि वही बीज पुरानी धरती और सनातन आकाश की अवज्ञा करके, अपना असाधारणता बनाये रखने के लिए वायु पर उड़ता ही रहे तो ससार के निकट अपना साधारण परिचय भी खो बैठेगा ।

कवि, कलाकार, साहित्यकार सब, समष्टिगत विशेषताओं को नव नव रूपों में साकार करने के लिए ही उससे कुछ पृथक् खड़े जान पड़ते हैं, परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को जीवन की व्यापकता में साधारण न बना सकें तो आदर्शों की वस्तु मात्र रह जायेंगे । महान् से महान् कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर, एक परिचयभरा

## आरम्भ आलोचना

आभास ही समझना, क्योंकि वह धूमकेतु का आरम्भ और अन्तिम बिन्दु धूम का निश्चय और परिष्कार रहकर ही हमें मार्ग दिखसकता है।

आज बलाकार समाधि का महत्व समझाया है, परन्तु इस बोध के ही उगने सम्पूर्ण जीवन की स्वीकृति नहीं है। बोद्धि पराकाष्ठ पर चिरःस्थित मानव को प्रतिष्ठा करने समय उसे अपनी विमानता की अतिशय बेतुकी उमरी अंग देवताओं की नहीं। ऐसी स्थिति बहुत गुरुमीय नहीं; क्योंकि वह गिदाला को व्यापार का महत्व समझ बन जाने की सुविधा दे देती।

जीवन के शब्दों में मुख्य होकर गिदाला जब धर्म, समाज, नीति आदि सभी की सीढ़ियाँ पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब वे व्यवसाय-वृत्ति को जर्मन-स्वीडिश देते हैं धर्म जीवन के विकास को नहीं दे पाते। साहित्य-मान आदि के पराकाष्ठ पर भी इस नियम का अभाव नहीं मिलेगा।

मर्षाण साहित्यकार और कवि के बुद्धिभय और अनुभूति की हरिता ने ऐसी नियामीलता को जन्म दे दिया है जो गिदाला को मात्र-धोकर रात-दिन चमकाती रहती है, पर जीवन में जग लग जाने देती।

वे अपने जीवन में बिना कुछ दिये ही एक पक्ष से सब कुछ ले आना चाहते और दूसरे को, बहुत मूल्य पर देने की इच्छा रखते हैं। इस बनजार वृत्ति से उग्र दो पक्षों को लाभ होने की सम्भावना कम रहती है। काव्य में तो जीवन का निरन्तर स्पर्श और उसकी मानिक अनुभूति सबसे अधिक अपेक्षित है, अतः यह प्रवृत्ति न उसे गहराई देती है न व्यापकता। यह युग यथार्थवादी है, अतः जीवन के स्पन्दन के बिना उसका मथार्य इतना शीतल हो उठता है कि अस्वीकृत उत्तेजनाओं से उसमें कृत्रिम उष्णता भरती जाती है।

काव्य की उत्कृष्टता किसी विशेष विषय पर निर्भर नहीं; उसने लेख हमारे हृदय को ऐसा पारस होना चाहिए जो सबको अपने स्पर्श-मात्र से सोना करदे। एक पागल से चिनकार को जब फटा कागज, टूटी तूलिका और ध्वज डाल देने वाला रंग मिल जाता है तब क्षण भर में वह निर्वीर कागज जीवित हो उठता है, रंगों में कल्पना साकार हो उठती है, फिर you

गोवि. २१३

ओं में जीवन प्रतिबिम्बित हो उठता है, उम पापिव वस्तु के अपापिव के साथ हम हंसते हैं, रोते हैं और उसे मानवीय सम्बन्धों में बांध रखना ते हैं। एक निरर्थक जनसन से पूर्ण टूटे एवतारे के जजर तारों में गायक कुशल उगलिया उलझ जाने पर उन्ही तारों में हमारे सारे गुण-दुःख इस उठने हैं, सारी सीमा के सकीर्ण बन्धन छिन्न-भिन्न होकर वह जाते हैं (हम किसी अज्ञात सौन्दर्य-लोक में पहुँचकर चकित में, मुग्ध में उमे । मुनते रहने की इच्छा करने लगते हैं, निरन्तर पैरों से ठुकराये जानेवाले य पापाण में गिल्पी के कुशल हाथ का स्पर्श होने ही यही पापाण भोम समान अपना आकार बदल डालता है, उममें हमारे सौन्दर्य के, शक्ति के दर्श जाग उठते हैं, और तब उमी को हम देवता के समान प्रतिष्ठित कर दन फूल से पूजकर अपने को धन्य मानते हैं। जल का एकरंग भिन्न-भिन्न धाले पात्रों में जमे अपना रंग बदल लेता है उसी प्रकार चिरन्तन सुख-ज हमारे हृदयों की सीमा और रंग के अनुसार बन कर प्रकट होते हैं। हमने हृदयों की सारी अभिव्यक्तियों को एक ही रूप देने को आकुल न होना हिष्ट क्योंकि यह प्रयत्न हमें किसी भी दिशा में सफल न होने देगा।

मनुष्य स्वयं एक सजीव कविता है। कवि की कृति तो उम सजीव विता का शब्द-चित्र — — — — —  
सकी एवता जानी ७

तोतर एक ओर इस संसार से अधिक सुन्दर अधिक मुकुमार समार बना ला है। मनुष्य में जड़ और चेतन दोनों एक प्रगाढ़ आलिंगन में आवद्ध रहने । उमका बाह्याकार पापिव और मौहित सुसारे का भाग है और अन्त-तल अपापिव असीम का—एक उस को विश्व में बांध रखना है तो दूसरा में बल्यना द्वारा उठाता ही रहना चाहता है।

जड़ चेतन के बिना विवास-रून्य है और चेतन जड़ के बिना आवार-रून्य। इन दोनों की चिया और प्रतिचिया ही जीवन है। चाहे कविता किमो नापा में हो चाहे किसी 'वाद' के अन्तर्गत, चाहे उममें पापिव विश्व की अभिव्यक्ति हो चाहे अपापिव की ओर चाहे दोनों के अविच्छिन्न सम्बन्ध की,



जाता है, परन्तु इस जटिलता के मूल में मनुष्य कोई अन्तर न होकर  
समान-श्रेणी में मनुष्य का अन्तर्गत और अन्तर्गत होता ही है।

यदि सबसे कम सामान्य दृष्टि बाह्य मनुष्य ही उसके जीवन को पूर्ण  
कर देता तो शेष प्राणिजगत् के समान वह बहुत ही जटिल समस्याओं में  
रख जाता। परन्तु ऐसा ही नहीं मन्ता। उसके शरीर में जैसा भौतिक  
दृष्टि का चरम विभाग है, उसी के अन्तर्गत भी उसी प्रकार प्राणिजगत् की  
वैयर्थता का अन्तर्गत है।

मनुष्य का निरन्तर परिणत होता चाने वाला यह मानसिक जगत्  
वस्तुजगत् के मध्य में प्रभावित होता है, उसके मने में अपनी अभि-  
व्यक्ति चाहता है परन्तु उसके अन्तर्गत को पूर्णता में स्वीकार नहीं करना  
चाहता। अतः जो कुछ प्रत्यक्ष है वैयर्थ्य उनका ही मनुष्य नहीं बल्कि जो मनेता  
— उसके माध्याम्य उगता जितना विस्तृत और गतिशील अप्रत्यक्ष जीवन  
है उसे भी समझना होगा, प्रत्यक्ष जगत् में उगता भी मनुष्यत्व करना हीमा,  
अन्वेषण मनुष्य के सम्बन्ध में हमारा सारा ज्ञान अनुरूप और सारे समाधान  
अपुनरे रहेंगे।

मनुष्य के इस दोहरे जीवन के समान ही उसके निवृत्त बाह्य जगत् की  
सब वस्तुओं का उपयोग भी दोहरा है। ओग की मूढों में जड़े गुलाब के दल जब  
हमारे हृदय में मुक्त एक अत्यन्त मौल्य और गुण की भावना को जागृत  
कर देते हैं, उनकी शक्ति गुणमा हमारे अस्तिपत्त को विस्तृत की सामग्री  
देती है तब हमारे निकट उनका जो उपयोग है वह उस समय के उपयोग से  
सर्वथा भिन्न होगा जब हम उन्हें मिथी में गलाकर और गुलकन्द नाम देकर  
औषधि के रूप में ग्रहण करते हैं। समय, आवश्यकता और वस्तु के अनुसार  
इस दोहरे उपयोग की मात्रा तथा तत्त्वन्तित रूप कभी-कभी इतने भिन्न हो  
जाते हैं कि हमारा अन्तर्जगत् बहिर्जगत् का पूरक होकर भी उसका विरोधी  
जान पड़ता है और हमारा बाह्य जीवन मानसिक से मंचालित होकर भी  
उसके सर्वथा विपरीत।

मनुष्य के अन्तर्जगत् का विस्तृत ज्ञान के अन्तर्गत और अन्तर्गत का अन्तर्गत



उसने अमृत होने का रहस्य यही है कि वह मनुष्य के हृदय के शरीर, यही कारण है कि दो मनुष्यों के देह, वायु और गन्ध आदि में मनुष्य के शरीरों के अन्तर होने पर भी वे एक दूसरे के हृदयगत भावों को समझने में सक्षम होते हैं। जिस प्रकार बीणा के तारों के भिन्न-भिन्न स्वरों में एक प्रकार की एकता होती है जो उन्हें एक साथ मिलकर चलने की और अपने साथ के संगीत की सृष्टि करने को क्षमता देती है उसी प्रकार मनुष्य के हृदयों में एकता छिपी हुई है, यदि ऐसा न होता तो विश्व का संगीत ही बेमुश्किल होता।

फिर भी न जाने क्यों हम लोग अलग अलग छोटे छोटे दापरे बनाकर उन्हीं में बँट बैठे साँचा करते हैं कि दूसरा हमारी पहुँच में बाहर है। कवि विश्व का या मानव का बाह्य-सौन्दर्य देखकर सब कुछ भूल जाते हैं, सोचता है उसके हृदय से निकला हुआ स्वर अलग एक संगीत की सृष्टि करेगा, दूसरा विश्व की आन्तरिक बेदना-बहुल सुषमा पर मतवाला है, ठठता है, समझता है उसके हृदय से निकला हुआ स्वर सबसे अलग एक रास्ते संगीत की सृष्टि कर लेगा, परन्तु वे नहीं सोचते कि उन दोनों के मिलकर ही विश्व-संगीत की सृष्टि कर रहे हैं। २५१६

मनुष्य चाहे प्रकृति के जब उपादानों का सृष्टावशिष्ट माना जावे और चाहे किसी व्यापक चेतना का असंभूत परन्तु किसी भी अवस्था में का जीवन इतना सरल नहीं है कि हम उसकी पूर्ण सृष्टि के लिए उसके अंशों के समान एक निश्चित सिद्धान्त दे सकें। जड़ द्रव्य से तो तथा वनस्पति-जगत् के समान ही उसका शरीर निर्मित और विकसित है, अतः प्रत्यक्ष रूप से उसकी स्थिति बाह्य जगत् में ही रहेगी और जीवन के जितने रूप देखे जाते हैं मनुष्य में इतना विशिष्ट ज्ञान प्रकृति के सृजन की स्थूल समष्टि में निहित स्थान खोज लेना कठिन

मनुष्य के दृग दोहरे जीवन के समान ही उसने निचट घात जगत् की सब वस्तुओं का उपयोग भी दोहरा है। धीमे की मंदा से जट्ट गुणव के दृग जब हमारे हृदय में गुप्त गुप्त अलसता गौन्दय और गुप्त की भावना को जागृत कर देने हैं, उनही क्षणिक गुप्तता हमारे मस्तिष्क को चिन्तन की सामग्री देती है तब हमारे निचट उनका जो उपयोग है वह उन समय के उपयोग से सर्वथा भिन्न होगा जब हम उन्हें मिथी में गण्यकर और गुणान्द नाम देकर औपधि के रूप में ग्रहण करते हैं। समय, आवश्यकता और वस्तु के अनुसार दृग दोहरे उपयोग की मात्रा तथा सज्जनित रूप बभी-बभी हटने भिन्न हो जाते हैं कि हमारा अन्तर्गन्त बहिर्गन्त का पूरक होकर भी उसका विरोधी जान पहचाना है और हमारा बाह्य जीवन मानसिक से मन्वर्लित होकर भी उसके सर्वथा विरहीत।

मनुष्य के अन्तर्गन्त का विकास उसके मस्तिष्क और हृदय का परिष्कृत

होने लगता है, परन्तु इन परिष्कार का प्रम दाना जटिल होता है कि व निश्चित रूप से केवल बुद्धि या केन्द्र मानना या मूल पकड़ने में अगम्य है रहता है। अभिव्यक्ति के बाह्य रूप में बुद्धि या भावप्रवृत्ति की प्रधानता ही हमारी इन धारणा का आधार बन सकती है कि हमारे मस्तिष्क का विशेष परिष्कार चिन्तन में हो सारा है और हृदय का जीवन में। एक में हम बाह्य जगत् के सत्कारों को अपने भीतर लाकर उनका निरीक्षण परीक्षण करते हैं और दूसरे में अपने अन्तर्जगत् की अनुभूतियों को बाहर लाकर उनका मूल आसते हैं।

चिन्तन में हम अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को समेट कर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपना बौद्धिक समाधान करते हैं, अतः कभी कभी वह इतना ऐकान्तिक होता है कि अपने से बाहर प्रत्यक्ष जगत् के प्रति हमारी चेतना पूर्ण रूप से जागरूक ही नहीं रहती और यदि रहती है तो हमारे चिन्तन में बाधक होकर। दार्शनिक में हम बुद्धिवृत्ति का ऐसा ही ऐकान्तिक विकास है जो उसे जैसे जैसे ससार के अव्यक्त सत्य की गहराई तक बढ़ाता चला है जैसे जैसे उसके व्यक्त रूप के प्रति वीतराग करता जाता है। वैज्ञानिक निरन्तर अन्वेषण के मूल में भी यही वृत्ति मिलेगी; अन्तर केवल इतना है कि उसके चिन्तनमय मनन का विषय सृष्टि के व्यक्त विविध रूपों की उल्लेख है, उन रूपों में छिपा हुआ अव्यक्त सूक्ष्म नहीं। अपनी अपनी खोज में दोनों ही वीतराग हैं क्योंकि न दार्शनिक अव्यक्त सत्य से रागात्मक स्थापित करने की प्रेरणा पाता है और न वैज्ञानिक व्यक्त जगत् के विविध रूपों में रागात्मक स्पर्श का अनुभव करता है। <sup>दार्शनिक</sup> ~~एक व्यक्त~~ रहस्य की गहराई तक पहुँचना चाहता है, दूसरा उसी के प्रत्यक्ष विस्तार की सीमा तक, परन्तु दोनों ही दिशाओं में बुद्धि से अनुशासित हृदय को मौन रहना पड़ता है, इसी से दार्शनिक और वैज्ञानिक जीवन सम्पूर्ण विषय जो मनुष्य और दोष सृष्टि के रागात्मक सम्बन्ध से गत है नहीं दे सकते। 36 12/11/54 24 4/10 81

पुष्प के ज्ञान की कुछ शाखाएं दर्शन, विज्ञान आदि के समान

लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ वाक्य के रूप और उपयोगिता सम्बन्ध में कहा जा चुका है, वह परिमाण में, कम नहीं, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उगरी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याएँ लेकर आता है जिनके समाधान के लिए नई दिशाएँ खोजनी हुईं। जोवृत्तियाँ उग युग के वाक्य और कलाओं को एक विशिष्ट रूपरेखा देती हैं। मूलतत्त्व न जीवन के सभी बदले हैं और न वाक्य के बारे के। उन शास्त्र चेतना में सम्बद्ध हैं जिसके सम्बन्ध एक रहने पर ही जीवन की प्रत्येक रूपरेखा निर्भर है।

अर्थात् युगों के जिनने मर्चित ज्ञान बोध के हम अधिकारी हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि कविता मानव-ज्ञान की अन्य शाखाओं की सदैव अप्रयोज्य रही है। यह प्रेम अकारण और आत्मिक न होकर मकारण और निश्चित है क्योंकि जीवन में चिन्तन के शौर्य में ही भावना तरुण हो जाती है। मनुष्य बाह्य समाज के साथ कोई बौद्धिक समझौता करने के पहले ही उसके साथ एक सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है यह उसके शिशु जीवन में ही स्पष्ट हो जायेगा। यदि हम मनुष्य के मस्तिष्क के विकास की तुलना फूल के विकास से करें जो अपनी सरसता में सदा ही परिमित है तो उसके हृदय के विकास को फूल का विकास कहना उचित होगा जो अपने सौरभ में अपरिमित होकर ही खिला हुआ माना जाता है। एक अपनी स्थिरता में पूर्ण है और दूसरा विस्तार में।

है कि मनुष्य के ज्ञान की समष्टि में कविता को और विशेषतः को इतना महत्व मनुष्य की भावुकता से ही नहीं उसके ण से भी मिला था। जिस युग में मानवजाति के समस्त दूसरे कण्ठ में संचरण करते हुए ही रहना पड़ता था एक शाखा को अपने अस्तित्व के लिए छन्दबद्धता के पथ का ही आश्रय लेना पड़ा। इसके अतिरिक्त ग्राह्य होने के लिए भी पथ की रूपरेखा का वह बन्धन

में अपनी क्षाणिकता व्यक्त करता रहता है अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों की एकता लेकर साहित्य में व्यक्त होता है। साहित्यकार किसी प्रकार यह जानता है कि बाह्यजगत् में मनुष्य जिन घटनाओं को जीवन का नाम देता है वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उनके 2. आपूर्ण की परिचायक हैं, जीवन नहीं; उसी प्रकार यह भी उसने छिपा नहीं कि जीवन के जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है उसीकी छाया इन घटनाओं को व्यक्त रूप देती है। इसी से देना और कल की सीमा में बचा साहित्य रूप में एकदेशीय होकर भी अनेकदेशीय और मुग्विशेष सम्बद्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए सर्वेदनीय बन पाता है।

साहित्य की विस्तृत रंगशाला में हम कविता को कौनसा स्थान दें यह भी स्वाभाविक ही है। वास्तव में जीवन में कविता का वही महत्त्व है जोर भित्तियों से घिरे कक्ष के वायुमण्डल को अन्तःस्थापित करके वहाँ से वायुमण्डल से मिला देने वाले वातायन को मिला है। जिस प्रकार वह आ-खड़ को अपने भीतर बन्दी कर लेने के लिए अपनी परिधि में नहीं प्रत्युत हमें उस सीमा-रेखा पर खड़े होकर सिद्धि तक दृष्टि-प्रस वेधा देने के लिए, उसी प्रकार कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन के व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी में बाँधती है।

साहित्य के अन्य अंग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु न उनमें सामजस्य की ऐसी परिणति होती है न आपास-हीनता। जीवन की विविधता में सामजस्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकती है जो गति की विभिन्न लो की अनेकरूपता या रेखाओं की विषमता के सामजस्य पर लत हैं।

कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है परन्तु अब तक उतनी ही ऐसी परिभाषा न बन सकी जिसमें तर्क-वितर्क की सम्भावना न रही। ऐसे अतीत भूग से लेकर वर्तमान तक और 'वाच्य रंगमण्डल'

ले लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा जा चुका है, वह परिमाण में, कम नहीं, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याएं लेकर आता है जिनके समाधान के लिए नई दिशाएं खोजती हुई मनोवृत्तियां उस युग के काव्य और कलाओं को एक विशिष्ट रूपरेखा देती रहती हैं। मूलतः न जीवन के कभी बदले हैं और न काव्य के, कारण वे उस शाश्वत चेतना से सम्बद्ध हैं जिसके तत्त्वतः एक रहने पर ही जीवन की अनेकरूपता निर्भर है।

अतीत युगों के जितने सवित ज्ञानकोष के हम अधिकारी हैं उगने आधार पर कहा जा सकता है कि कविता मानव-ज्ञान की अन्य शाखाओं की संवेद अग्रजो रही है। यह प्रेम अकारण और आकस्मिक न होकर सकारण और निश्चिन्त है क्योंकि जीवन में चिन्तन के संभव में ही भावना तटस्थ होती है। मनुष्य बाह्य सत्ता के साथ कोई बौद्धिक समझौता करने के पहले ही उसके साथ एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है यह उसके निरपेक्ष जीवन में ही स्पष्ट हो जायेगा। यदि हम मनुष्य के मस्तिष्क के विकास के तुलना फल के विकास में करें जो अपनी सरसता में सदा ही परिमित है तब उसके हृदय के विकास को फूल का विकास कहना उचित होगा जो अन्तः सौरभ में अपरिमित होकर ही खिलता हुआ माना जाता है। एक अरुण अग्रिमवृत्ता में पूर्ण है और दूसरा विस्तार में।

यह सत्य है कि मनुष्य के ज्ञान की समष्टि में कविता को और विशेषतः उसके बाह्य रूप को इतना महत्व मनुष्य की भावुकता में ही नहीं उगने व्यावहारिक दृष्टिकोण में भी मिला था। जिस युग में मानवजाति के समस्त ज्ञान को एक बण्ड से दूसरे बण्ड में संचरण करते हुए ही रहना पड़ता है उस युग में उसकी प्रत्येक शाखा को अपने अस्तित्व के लिए छन्दबद्धता, कारण स्मृतिमुलभ पद्य का ही आश्रय लेना पड़ा। हमारे अनिश्चित शुष्क ज्ञान में अधिक बाध होने के लिए भी पद्य की रूपरेखा का बहु बन्ध

मैं अपनी क्षमता अधिकारिता बना रहा है। मैंने क्या और बना  
ही नहीं की। क्या मेरे गार्डियन में क्या होता है। गार्डियन  
प्रकार यह जानता है कि बाह्य रूप में मनुष्य किन घटनाओं को भोग  
नाम देता है व जीवन के व्यापक रूप की गहराई और उन  
सूत्रों की परिभाषा है, जीवन नहीं; उसी प्रकार यह भी हमने कि  
गर्ही कि जीवन के किम बनना शुरू की यह मानना कर सकता है  
छाया इन घटनाओं को क्या रूप देती है। इसी में देन और जान की  
में क्या गार्डियन रूप में एकदलीय होकर भी अनंतदलीय और मुक्ति  
त गार्डियन रहने पर भी मुक्त-मुक्तान्तर के लिए सर्वदलीय  
होता है।  
गार्डियन की विस्तृत रचनाओं में  
प्रश्न भी स्वाभाविक

प्रश्न की विस्तृत रचनाओं में हम कविता को जीवन का स्थान दे रहे हैं जो कठोर भित्तियों में घिरे कष्ट के वायुमण्डल को अत्यास ही-आत्म के उन्मुक्त वायुमण्डल में मिला देने वाले वातायन को मिला है। जिस प्रकार वह आकाश-नाद को अपने भीतर बन्दी कर लेने के लिए अपनी परिधि में शायता प्रत्युत हम उस गीमा-रेखा पर खड़े होकर शक्ति तक दृष्टि-प्रतीति सुविधा देने के लिए, उगी प्रकार कविता हमारे दृष्टि-सीमित जीवन में दृष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक चरित्र को अपने पि में बाँधती है। साहित्य के अन्य अंग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं। उनमें सामाज्य की ऐसी परिणति होती है न आकाश-हीनता। न की विविधता में सामाज्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है जो गति की विभिन्नता, की अनेकरूपता या रेखाओं की विषमता के सामाज्य पर हैं।

कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है परन्तु अब तक उसकी ती परिभाषा न बन सकी जिसमें तर्क-नितर्क की समावना न रही ले अतीत भूत से लेकर वर्तमान तक

क. कृष्ण

से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा जा चुका है, वह परिमाण में, कम नहीं, परन्तु अब तक मनुष्य के हृदय का पूर्ण परिलोप हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याएँ लेकर आता है जिनके समाधान के लिए नई दिशाएँ खोजनी हुईं मनोवृत्तियाँ उस युग के काव्य और कलाओं को एक विशिष्ट रूपरेखा देती रहती हैं। मूलतत्त्वन जीवन के कभी बदले हैं और न काव्य के कारण वे उस शाश्वत चेतना में सम्बद्ध हैं जिनके तत्त्वतः एक रहने पर ही जीवन की अनेकरूपता निर्भर है।

अतीत युगों के जितने सचित ज्ञान कोष के हम अधिकारी हैं उससे आधार पर कहा जा सकता है कि कविता मानव-ज्ञान की अन्य शाखाओं के सदृश अग्रजों <sup>२१३, २१४, २१५</sup> रहा है। यह न अकारण और आकस्मिक न होकर सकारण और निश्चित है क्योंकि जीवन में चिन्तन के शैशव में ही भावना तरुण होती है। मनुष्य बाह्य ससार के साथ कोई बौद्धिक समझौता करने के पहले ही उसके सुषुप्त एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है यह उसके शिष्ट जीवन में ही स्पष्ट हो जायेगा। यदि हम मनुष्य के मस्तिष्क के विकास के तुलना फल के विकास से करें जो अपनी सरसता में सदा ही परिमित है तो उसके हृदय के विकास को फूल का विकास कहना उचित होगा जो अपसौरम में अपरिमित होकर ही खिला हुआ माना जाता है। एक अपने अपरिपक्वता में पूर्ण है और दूसरा विस्तार में।

यह सत्य है कि मनुष्य के ज्ञान की समष्टि में कविता को और विशेषतः उसके बाह्य रूप को इतना महत्व मनुष्य की भावुकता से ही नहीं उस वैवाह्य दृष्टिकोण से भी मिला था। जिस युग में मानवजाति के समस्त ज्ञान को एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ में ही रहना पड़ता था उस युग में

लिए छन्दबद्धता

सन्निहित







रोमाना और ट्रेजडी अथवा गुणान्त और दुःगुणान्त की ओर ही सुराज्य का गुणान्त या दुःगुणान्त, जहाँ का ग्राह्यितिक दृष्टिकोण है वहाँ की संज्ञा ऐहिक है। हमारी संस्कृति अतीन्द्रिय है। हमारा देव इन दिनों ऐहिक के सम्पर्क में भी है, अतएव हमारे आधुनिक ग्राह्य की मूर्ति में वह भी अगोचर नहीं।

अपने प्राचीन साहित्य में हम यह भी देखते हैं कि अन्त में देव सम्पूर्ण भार गृहिणियों के मस्तक पर ही कृष्णा का ताज बन कर सो होता है, वनवास में सीता और कृष्ण-विरह में गोपिकाएं कृष्ण की ऐन साम्राजियाँ हैं। पुरुष ने ट्रेजडी का भार अपने मस्तक पर नहीं लिया, क्यों? पुरुष यदि यह भार लेता तो उसका अनधिकार होता। इतना भार लेकर वह इस पृथ्वी पर शेष नहीं रह जाता। पृथ्वी की भाँति हम गृह-देवियाँ ही सर्वसह्य हैं, इसीलिए वे पृथ्वी की कन्याएँ हैं; सीता की मृदुविलीनता इसी संकेत का रूपक है। माताओं ने जिस संसार को जन्म दिया है, उसकी रक्षा के लिए प्रजा-वत्सलता के लिए वे वीर बाहुओं को जीवित सुरक्षित देखना चाहती हैं। वे मरणान्तक वेदना स्वयं लेकर अपनी स्मृति की सजीवनी से पुरुष को जीवित रहने के लिये छोड़ जाती हैं। वे मा विधाता की एक विदग्धतम कृति के रूप में सूखी पृथ्वी पर अश्रु-सिन्धु बहाकर चली जाती हैं और पुरुष मानो एक कवि के रूप में उनका स्मरण कीर्तन करता रहता है। नारी, पुरुष के जीवन में जो कृष्णा-धन छहर जाती है, उसी के कारण पुरुष शान्ति का प्रतिनिधि बन पाता है। कृष्ण ही मनुष्यता है। मनुष्यता के महासिन्धु में पुरुष अपनी जीवन-नौका खेता है; मधु और कंदम-जैसे जो असुर, मानवता के सिन्धु को कलुषित करते हैं, वह उनका महार करता जाता है।

जीवन की ट्रेजडी नारी के बजाय पुरुष के कंधों पर पड़ती तो हमारे आश्रमों की व्यवस्था ही बदल जाती। तब शायद एक ही आश्रम रह जाता गृहस्थ। काव्य में एक ही रस रह जाता—शृंगार। उस स्थिति में राम-चरित्र और कृष्ण चरित्र का कथानक ही कुछ और हो जाता।

हम पौराणिक भारतीयों को वैष्णव संस्कृति कलात्मक है, जिसका परि-  
 त्त हमें अपने चित्रों, मूर्तियों और दशावतार की शायित्तों से मिलता है। यह  
 त्पूर्ण कलागुण आध्यात्मिक संस्कृति के प्रकाशन के लिए है। वर्णमाला  
 न बोध कराने के लिए जिस प्रकार शिशु-हाथों में सचित्र पोथियाँ दी जाती  
 हैं, उसी प्रकार जनता को अदृश्य आत्मानन्द का ज्ञान कराने के लिए हमारा  
 समाज और साहित्य में सगुण आराधना अर्थात् भक्तिमय चित्र-काव्य  
 उपस्थित किया गया है। इस प्रकार सत्य ने सौन्दर्य धारण किया है, अदृश्य  
 ने दृष्टात पाया है। वे सगुण शायित्त आज के लैन्टर्न-शेवचरों (व्याख्या  
 चित्रों) से अधिक सजीव और मान्य हैं। वे अर्थज्ञानिक नहीं, मनोवैज्ञानिक  
 हैं, जनता की रसवृत्ति में काव्य द्वारा सहयोग करती हैं।

हम सत्य-शिव-सुन्दरम् के चिर उपामक हैं, इसलिए कि, हम केवल  
 लौकिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक संस्कृति के पूजक हैं। लौकिक जीवन का  
 हमने आध्यात्मिक संस्कृति द्वारा लोकोत्तर बताया है। पश्चिमीय सभ्यता  
 लौकिक है, अनएव वह कला के, जीवन के, ऊपरी ढांचे (आकार) को ही  
 देखती है, वहा इसी अर्थ में कला 'कला के लिए' है। किन्तु हम सुन्दरम् के  
 स्थूल ढांचे में सूक्ष्म चेतना को देखते हैं, इसीलिए सुन्दरम् से पहले सत्य  
 चित्रम् वह कर मानो भाष्य कर देते हैं। इस प्रकार हम उस चेतना का  
 ग्रहण करते हैं जिसके द्वारा सौन्दर्य साधारण एव अमूर्तत्वमय है।

हम अपनी संस्कृति में एक कवि हैं। पश्चिम अपनी सभ्यता में एक  
 वैज्ञानिक। स्थूलता (पार्थिवता) के ही रहस्यों में निमग्न रहने के कारण वे  
 निष्प्राण शरीर को भी अपनी वैज्ञानिक प्रयोग-शाला में रखने को तैयार हैं  
 जबकि हम उसे निस्सार मानकर महात्मज्ञान को सिपुदं कर देते हैं  
 जो हमारा त्याग्य है, वह पश्चिम का ग्राह्य है; इसीलिये वह उसे कब्रों और  
 स्मृतिमयों में सँजोये हुए है। हमारा जो ग्राह्य है, उसे हम गजोंते हैं काव्य में  
 संगीत में, चित्र में, मूर्ति में—व्यक्ति की स्मृति को अर्थात् उसकी अदृश्य  
 चेतना को। हमारे ये चित्र, हमारी ये मूर्तियाँ, जड़ता को प्रतिनिधि नहीं; ज

हमने शरीर को ही सत्य नहीं माना तब मूर्ति को क्यों मानेंगे ! हम मूर्ति को ही सम्पूर्ण ईश्वर नहीं मानते । जब कोई मूर्ति मंडित कर दी जाती है तब हम यह नहीं समझते कि ईश्वर का नाश हो गया, बल्कि उसके बदले दूसरी मूर्ति स्थापित कर देते हैं । हम तो जब प्रतीक इमलिये रखते हैं कि हमें यह सांकेतिक पूजना मिलती रहे कि सत्य (चेतना) के न रहने पर जीवन इन प्रतीकों की भांति ही जड़ हो जाता है । इन प्रतीकों के माध्यम से हम उसी सत्य वा, उसी चेतना का आह्वान करते हैं ।

Exp 4.

[हम व्यक्ति को नहीं बल्कि व्यक्ति के भीतर बहने हुए रस को महत्त्व देते आए हैं, इसीलिये हमारे यहां एक-एक पौराणिक व्यक्ति एक-एक रस के आलम्बन स्वरूप ग्रहण किये गए हैं । दुर्मिदा-सीदित सुदामा कृष्ण के प्रतिनिधि, राधाकृष्ण प्रीति के प्रतिनिधि, सीताराम भक्ति के प्रतिनिधि हैं । इन तथा अन्यान्य रूपों में हमने व्यक्तियों का चित्र नहीं बनाया, बल्कि व्यक्तियों के अन्यतम प्रतिनिधियों का रस-चित्र बनाया है । उन चित्रों के साथ एक-एक आह्वान जुड़े हुए हैं, मानो प्रत्येक चित्र एक-एक मूक खण्ड-भाव्य हो ।]

(१)

Exp 5

[हमारे काव्य में जो आलम्बन-मात्र है, विज्ञान के लिए वह आलंबन ही सम्पूर्ण लक्ष्य है । विज्ञान अपने अनुसन्धानों से प्राणिशास्त्र को जानता है, जबकि हम रसों के भीतर से हृदय का अनुसंधान करते आये हैं । हम विज्ञान को अपने लौकिक अस्तित्व के लिये ग्रहण करते हैं, ज्ञान को आत्मबोध के लिए, रस को आत्मीयता के लिए । इन सभी आदानों में भारत का दृष्टि-क्षेत्र कला का सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् ही है ।]

(३)

✕ मध्यकाल की हिन्दी कविता, जिसमें राधाकृष्ण और सीताराम की तकियां हैं, वह गृहस्थों के नश्वर जीवन में अविनाश्वर का साहचर्य है । सृष्टि के लिए मानो अपने कलाधर का संरक्षण है [हम मिट्टी की जीवित प्रतिमाएं अपने प्रतिमाकार को अपने ही जैसे रूप-रंगों में प्रत्यक्ष कर अपनी अगणित तनाओं को उसमें पुंजीभूत कर, उसके महान् अस्तित्व से जीवन-यात्रा के

लिए शक्ति और स्फूर्ति ग्रहण करती हैं। जिसमें इतनी चेतनाओं का सम्मिलन है, जिसमें सौ-सौ सजीव विश्वासों का केन्द्रीकरण है, वह प्रभु निरा निर्जीव कल्पनामात्र कैसे कहा जा सकता है। अगणित बलकण्टो से चैतन्य होकर जब शून्य आकार भी सजीव प्रतिध्वनि देता है तब वह निर्गुण अपनी अगणित आत्माओं से शोभा-न्ममाविष्ट होकर क्यों न सगुण हो जायेगा ? हम तात्विक नहीं विश्वासी हैं। आध्यात्मिक और दार्शनिक अनुभव हमारे धार्मिक विश्वास के मूल आधार हैं। हम सत्य को कुरेद-कुरेद कर नहीं देखते। कुरेद-कुरेद कर अपने पर, सत्य को क्षत-विक्षत कर देने पर, तात्विक जिसे अन्त में कुरूप बनाने पायेंगे, उसे हम रूपवान् बनने देने के लिए विश्वासपूर्वक ही अपने 'दयामन्दिर' में आराध लेते हैं।

धार्मिक विश्वासों का क्षेत्र वह है जिसमें बुद्धि और तर्क प्रवेश करने का पल तो करते हैं, किन्तु जितना ही प्रयत्न करते हैं, उतना ही अगफल रहते हैं। इसमें धार्मिक विश्वासों की निराधारता नहीं, बल्कि बुद्धि और तर्क की ही अक्षमता गिद्ध होती है। ईश्वर के अस्तित्व का एक मात्र निश्चिन् प्रमाण हमारी चेतना में ही विद्यमान है। हमारे अस्तित्व का मूल तत्त्व, हमारे अंतरात्मा की रहस्यपूर्ण निधि है, जो अपने को 'हम' कहती है, वह ईश्वर को ही गीत है। यही पूर्ण पुरुष अपने को मनुष्य में अवतरित करता है।

यह तो विज्ञान और वैज्ञानिक तरीकों के विस्तृत विपरीत होगा कि हम उन सभी बातों को ठीक न मान कर अस्वीकृत कर दें जिनकी हम टेस्ट ट्यूब में एंगिड की सहायता से जाँच न कर सकते हों। अपनी गूढ़मतम उपस्थितियों के बावजूद विज्ञान भी यही पहुँचेगा जहाँ धार्मिक विश्वास पहुँच चुके हैं। इस प्रकार विज्ञान अध्यात्म के लिए एक आनुसन्धानिक बाध बन जायेगा। आज भी स्वर्गीय लोग न पीपों और वृक्षों में घेनता का जे अन्वेष्टन कर दिया है उसमें मूर्खता की एकात्मता का आध्यात्मिक गन्ध गिद्ध होता है। वैज्ञानिक आइन्स्टीन भी अपनी बाल्यता में एक ईश्वर का अस्तित्व मानता है।

हाँ, विश्वदोष द्वारा जो ईश्वर-दर्शन होता है वह जीवन को कल्याणमय

बनाता है, किन्तु जो केवल सहीर जीने के लिये ही जीतावली है, उसे इस समान में जीने और जीतावली से मतलब है। समाजवादी इस विचार को देखकर ईश्वर विमुख हो गये। जो विश्वव्यापक है वे तो मानते हैं, वे अविचारक को क्या जानें। अविचारक का अन्तर्गत मरत नहीं, इसीलिए मरत और अविचारक के बीच ईश्वर की प्रतिष्ठापना की गई, अर्थात् ईश्वर के गोचर में और मरत के बीच एक धर्म मार्ग प्रस्थापित किया गया। मनुष्य तो मानते हो जाय और न अविचारक, अन्तः भोगयोग के मनुष्य के साथ जीवन का एक धर्म करो, इसी हेतु ईश्वरवाद है।

गृष्टि का यह एक भाविस्य युग था, जब प्राणिमात्र मनुष्यम अन्तर्गत थे। दूर अन्तर्गत की बात तो दूर, हम स्वयं अपने लिये ही एक विम्वय थे, हमें मानी ही प्रचलता पर मनुष्य था। उग विम्वय और मनुष्य के बाधुनिक में हमने तर्क के तीर बनाये। तर्कप्राप्त से परिचित होकर हम आत्मोपचार के लिए महयोग की शोख में निरन्ते। इच्छा हुई, कोई हमें सहारा दे, कोई हमारे प्रीतिप्रो को समझे। इन्हीं कोमल आकाशवाणी ने समाज बनाया। सामाजिक रूप में ही भारत ने इस समय को जाना—एकदम बहुत स्याम्। हमने अपनी स्वयंशता पर विन्यास करके ही जाना कि जेगे हम अनेक हैं, वैसे ही हमारे परे कोई एक भी है। यह विश्वास ही हमारा स्वभाव बन गया, हमारा स्वभाव ही काव्य बन गया।

जहा तक है, वहां सत्य और अविश्वास है। आज जो कुछ विश्वासरूप में शेष रह गया है, वह अनेक तर्कों और अनेक सत्यो के लोक-मन्यन से प्राप्त कौस्तुभ मणि है। वह हमें फूलो और मरात्रो की भांति मुलम हुआ है, वह हमारे रुखे-सूखे जीवन को नन्दन-वन बनाने के लिए है।

मनुष्य ने अपने निरन्तर के विकास से जो जीवनाधार पाया, वह तर्क ही, भाव है। तर्क जडयुग की वस्तु है, भाव विकसित मानवयुग का सत्य। राव के क्षेत्र में यदि तर्क अपनेको आधुनिक युग का विचारक सिद्ध करे तो यह उसका अनधिकार और अत्याचार होगा, अन्धकार का प्रकाश पर आक्रमण होगा। ससार में जहां जो कुछ भी भाव है, काव्य है, विश्वास है; वहां तर्क

गुजारा नहीं। उसका स्थान विज्ञान में हो सकता है, जहाँ एक अधिकार को पार करने न करने दूसरा अंधकार घटाटोप समस्या बनकर अभावस्था के अन्ध आचान की भाँति अछोर फैला रहता है। आर्य्य भारत ने अपना स्वभाव, अपना विश्वास विज्ञान की समस्त सीमाओं को पार कर ज्वलन्त किया है। भारत तार्किक नहीं, चिरजिज्ञासु है। विज्ञान की सर्वदृष्टि आकाश के बुद्ध-अंधकार पर पड़ी, भारत के जिज्ञासु-नेत्रों ने कहा—अन्धकार तो। माया की मधन-छाया तो है, चिन्तु इन उदुगणों में किमके अन्तर्लोचन जगता रहे हैं।

न जाने नक्षत्रों से कौन  
निमग्नण देता भुशकी मौन

इस माया में कौन धेतन जाग रहा है? भारत की जिज्ञासा चिर-सजग की ओर बढ़ी, उसने अभावस्था के बुद्ध के बाद शरद का पूनो देखा, मानो आहमने हुए सच्चिदानन्द के स्वर्ग को देखा। उसने विज्ञान में ऊपर उठकर उसी स्वर्ग में गूहम्य होकर विहार किया। उसने विहार किया, विलास न। यह जगा रहा, सोया नहीं। जब जब उसने अलगा कर मोना खाहा, तब। उसके बवियों ने उसे जगाया। भारत ने आरमजागृति प्राचीके उस स्वर्णप्रभ में पाई थी, जिसे हम अपनी सभ्यता के इतिहास में सतयुग कहते हैं। स। तर्कों और अविश्वासों को पार कर उसी स्वर्णप्रभात में भारत ने जन्म-ज का तत्त्व पा लिया था, उसी साह्यमुहूर्त में उसने जीवन को जान लिया। और ज्ञान के सर्वोच्च गिखर में यह शुभ कामना की थी—‘तमसो ज्योतिर्गमय।’

(४) अविमर्शनी जीवन २३

आर्य्य भारत अपने ज्योतिर्मय में आलोकित इहलोक में जीवन का खेलता है। शृष्ण ने अतिमिचीनी खेल कर दत्तला दिया है कि देखो, खिल एंगे खिलते हैं—प्रेम में वे मोहामय हैं, कर्तव्य में निर्मोही हैं। वे निर्म गमताएँ हैं, वे प्रेम-जोनी हैं। भारत इसी आदर्श के चरणों में अ गमस्त जीवन का पाशार्थ्य देकर ‘शृष्णार्पणमस्तु’ कह कर, विश्वार्थ





ना है। इसी कारण हमारे जीवन में मनोरमता और कविता है।

हमारे प्रभु की झाँकी अर्द्धनारीश्वर की झाँकी है, पुरुष और प्रकृति संयुक्त व्यक्तित्व से पूर्ण होकर वह अपनी लोक-लीला का विस्तार करता है। अपनी दाम्पत्य इकाई से हम प्रभु की ही लीला का प्रसार करते हैं, सोलिये हम वैष्णव हैं। वैष्णव भारत अपनी गृहस्थी में एक ओर तो भी है, दूसरी ओर सेवक। प्रेमी के रूप में हम पारिवारिक प्राणी हैं, प्रतिपि-सेवी के रूप में लोक-संग्रही। कृष्ण-नाट्य और राम-नाट्य ने हमारे इसी द्विविध जीवन को व्यक्त किया है। कृष्ण-नाट्य ने हमें दाम्पत्य प्रेम दिया है, रामनाट्य ने विद्वत्प्रेम।

अन्ततः गृहस्थ जीवन ही हमारा सर्वस्व नहीं है, हमारा सर्वस्व है विद्वत्जीवन। गृहस्थ स्रिताओं के रूप में हम उसी विद्वत्जीवन के समुद्र की ओर अग्रसर होने रहते हैं। सामाजिक अगामन्त्रस्य से जब सत्कार वा एक प्राणी राम-रग करता है और दूसरा आठ-आठ आँगू रोता है, तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हमारे गृहस्थ जीवन ने जो सुख-दुख पाया है उगकी अनुभूति से दूसरों के सुख-दुख को भी समझें, दूसरों के सुख-दुख में हाथ बटावें। गीता के अनुसार —

आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योर्जुन।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

हम अपने ही राग-रंग में मनीष और अनुदार न हो जायें, यही लोक-संग्रह का पथ है। जो अपनी ही स्वार्थ-यूजा में व्यस्त है, वह वैष्णव नहीं। वैष्णव अपने सच्चिदानन्द के तरह बाटकर ग्रहण करता है।

तरह बाटकर ग्रहण करता है, मनुष्य

निर्गुण कबीर ने, त्रिगुण गमयन लोकाधीनता को निष्ठा कहा है उन भी जीवन में मनेदना को ही लौकिक तत्त्वों में सर्वोत्तम तत्त्व माना है—

भुलड़ा का देना करण में

तोरे इषा-धर्म नहि मन में ।

इस प्रकार गुणों का-रंग को छोड़ देने पर भी वैष्णव जीवन के मार्ग प्रदत्त किया ।

[ जहां योगक और योगिन के प्रगम में मनुष्यता के लिये हृदय अर्थात् हृदय का वह आगरा ही एक धर्म है । उस धर्म का रंगोदक करण मान्य है । किंगी मजहब को न मानने हुए भी हम गठानुभूति की भूमि ( हृदय ) में पार्थिवक (गमष्टिवादी) रह गये हैं । मात्र हमारी यह भूमि तो गई है हमें उगे पाना है—ग्राह्य और समाज की नवभेदन अभिव्यक्तियों द्वारा ।

हमारे काव्य ग्राह्य में सच्चिदानन्द का करणामय स्वरूप ही लोका-संग्रह का परमात्म रूप है । जब कोई सम्प्रदाय अपने प्रभु के करणमुख दुर्तियों को गुत्तीकर उनमें अपने सच्चिदानन्द की झांकी नहीं उतारता, तब सत्ते वैष्णव मानवता की पुकार सुनाते हैं । इस युग के गर्वभ्रेष्ठ वैष्णव बापू वही पुकार सुना रहे हैं ।

जा अनु ओ २६२२ अरि

(५)

वैष्णवकाव्य रहस्यवादमय है । रहस्यवाद दो प्रकार का है — एक पार्थिव, दूसरा अपार्थिव । सगुणोपासक कवि पार्थिव रहस्यवादी हैं, दूसरे शब्दों में इन्हें हम छायावादी कह सकते हैं जो सृष्टि के कण-कण को इसलिये प्यार करते हैं कि उनमें उन्हें अन्तश्चेतन की अनुरागिनी छाया मिलती है । ये जीवन के एक मिस्टिक रिपलिज्म (रहस्यवादी यथा-यवाद) के कवि हैं ।

सगुण-काव्य में पार्थिव भावों के अवगुण्ठन से अपार्थिव सत्य का सौन्दर्य जगमगा रहा है । इस अवगुण्ठित आध्यात्मिकता के कारण हमारे

तब जाने तब ही जो भाषा' के अनुसार वे उस वाक्यको ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु अनापिब रहस्यवाद भावुक गृहस्थ की चीज नहीं, वह शानियों की चीज है। वह गृहस्थों के बहि की नहीं, गन्तो की बानी है। गन्तो ने अपनी बानी में तब के रूप-रंग को नहीं ग्रहण किया, वे केवल मन्य या मत को ग्रहण कर लिये हो गये। इस प्रकार आध्यात्मिक चेतना के प्रकाशन के लिए हमारे भक्ति-वाक्य में एक ओर निर्गुण मिष्टिमिष्ट है, दूसरी ओर सगुण-मिष्टिमिष्ट। सगुण-रहस्यवाद (छायावाद) में प्रेम और भक्ति है, निर्गुण-रहस्यवाद में केवल भगवद्भक्ति। एक में लौकिकता और अलौकिकता दोनों हैं, दूसरे में केवल अलौकिकता।

तुलसीदास का छायावाद तथा निर्गुण सन्तों का रहस्यवाद कृष्ण-वाक्य की प्रतिक्रिया-भा है। लौकिक तृष्णाओं के लिए ही जब कृष्ण-वाक्य का दुरनयन होने लगा तथा गृहस्थों ने माधुर्य्य को ही प्रधानता देकर लोक-धर्म को बहा दिया, तब उन्हें धन्य करने के लिए तुलसी ने राम-वाक्य द्वारा प्रभु के लोकमण्डली-स्वरूप का दर्शन कराया। उन्होंने गार्हस्थ्यिक जीवन की कदर्यना देवकर गार्हस्थ्यिक जीवन की उपेक्षा नहीं की, बल्कि लोक-सेवी और त्याग-शरायण गृहस्थ के रूप में सीताराम को उपस्थित कर हमारे लौकिक जीवन का संगोधन किया। किन्तु निर्गुण सन्तों ने गृहस्थ जीवन की कदर्यना में माया का अविचार ही अविचार देखा। उन्होंने उसके संगोधन का नहीं, बल्कि मूलोच्छेदन का ही उपाय किया। गृहस्थों ने उनके माहित्य को उनका नहीं अपनाया, जितना तुलसी की रामायण को। सन्तों में कबीर और नानक इत्यादि ने गृहस्थों की भी प्रीति प्राप्त करने का प्रयत्न किया और गृहस्थों के दाम्पत्य भाव में माया और जीव का रूपक बांधकर उन्हें मायातीत होने का सन्देश दिया। किन्तु वे जितने वैदान्तिक थे, उतने मनोवैज्ञानिक नहीं। सूर ने 'ममर-भीत' में गृहस्थों के मनोवैज्ञानिक धात-प्रतिपात दिखाकर उनकी सौन्दर्य-लालसा को ऊधो के तर्कवाद पर विजयी बना दिया था। ठीक ऊधो की भाँति निर्गुण भी उदासी हो गये थे। किन्तु तुलसी ने गोपियों की विजय स्वीकार की।

उन्होंने रामायण को भीतरास के रूप में अपनाया। रामायण के रूप में ही क्यों नहीं? कृष्ण-काव्य का दुर्लभयोग वे देग चुके थे। तुलसी ने निर्गुणों का लक्ष्य एक ही था अर्थात् जीवन में परमचेतन की अनुभूति आत्मा द्वारा परमात्मा की प्रीति। किन्तु कृष्ण-काव्य के दुर्लभयोग के साथ ही तुलसी निर्गुणों की वैशान्तिक विफलता भी देग चुके थे, अतः कृष्ण-काव्य की भाँति उन्हें भी मनोवैज्ञानिकता द्वारा ही अपने निर्गुण लक्ष्य को समझना पड़ा, यद्यपि उनका उद्देश्य कृष्ण-काव्य से भिन्न था। तुलसी की विभिन्न शांकी गार्हस्थिक जीवन की मनोहरता के लिए वे प्रीतिकर तो थे—

कहा कहूँ छवि आज की भले बने हो नाथ !

किन्तु—

तुलसी मस्तक जय नव घनुष-धान लेठ हाथ ॥

देश-काल के जिस वातावरण में लोक-संग्रह का आदर्श वे उपस्थापित करना चाहते थे, उसके लिए उनके प्रभु को घनुष-धान हाथ में लेना आवश्यक था। कृष्ण-काव्य की उपेक्षा राम-काव्य में तुलसी ने जिस विशाल क्षेत्र को अपनाया, उसी के अनुरूप उस काव्य के लिए विशद मनोवैज्ञानिकता और प्रशस्त कलात्मकता की उन्हें रससिद्धि करनी पड़ी। मनोवैज्ञानिकता ने उनके काव्य को विशद बनाया, कलात्मकता ने उनके काव्य को मनोरमतापूर्वक मर्मस्थ किया।

(६)

जैसा कि निवेदन किया है, तुलसी और निर्गुणों का लक्ष्य एक था, किन्तु तुलसी का कर्म-मय होकर, निर्गुणों का ज्ञानमय होकर। कृष्ण-काव्य के भीतर जो अद्वैतवादी वैष्णव थे, यथा नन्ददास इत्यादि, उन्होंने भी अपने निर्गुण-प्रसंग में गीता के कर्मयोग का सकेत किया था। हाँ तो, तुलसी कर्मयोग के कवि थे, निर्गुण ज्ञानयोग के सन्त। ज्ञानयोग के प्रति राम-काव्य की उपेक्षा नहीं थी माधुर्यभाव प्रधान कृष्ण-काव्य की थी। तुलसी के हृदय में उन ज्ञानयोगियों के लिए सम्मान था, जिन्होंने बिना

लौकिक माया में फंसे ही परमतत्त्व पा लिया था। इसीलिए उन्होंने अपने  
 मुँह के मुख से कहलाया है—

**ज्ञानी मोहि विशेष प्यारा ।**

किन्तु वे उस परमतत्त्व को जानियो तक ही सीमित न रखकर, सांसा-  
 रेको तक पहुँचाना चाहते थे। वे महाकवि थे, उनकी कला-रचि ने जीवन  
 को केवल एक जीवित-श्मशान के रूप में ही देखना नहीं पसन्द किया।  
 महारमगान (महानिर्गुण) जीवन के जिन अनेक परिच्छेदों का अन्तिम  
 परिच्छेद है, तुलसी के नाटकीय और औपन्यासिक कलाकार ने उन पूर्व  
 परिच्छेदों को भी ललककर देखा। उन्होंने जीवन को अयोध्या के राज-  
 प्रासाद में, जनकपुर की फुलवारी में, चित्रकूट की वनस्थली में, केवट की  
 नाव में, शबरी के जूठे बेर में, लवा के महायुद्ध में देखा। इन परिच्छेदों  
 के अस्तित्व पर ही अन्तिम परिच्छेद (श्मशान) का मूढम सत्य या सत्त  
 अवलम्बित है। वह सार इसी समार का नवनीत है, वह रस यही के शूल-  
 फूलों का निचोड़ है। यदि कर्म-फल नहीं तो प्रेम का फूल वहाँ, यदि  
 फूल नहीं तो अम्यन्तर का रस वहाँ। अतएव रस के लिए सम्पूर्ण लौकिक  
 उपादानों का संचयन भी आवश्यक है, जनक की तरह विदेह होकर,  
 जिन्होंने आत्मा के रस को—

**‘भोग-योग भहूँ राखहि गोई’ ।**

यह उसी के लिए सम्भव है जो ज्ञानी और कर्मयोगी दोनों ही हो।  
 तुलसीदास ने अपने राम-काव्य में ज्ञानयोग को ही कर्मयोग में मूर्त किया  
 था। ज्ञान के आधार के लिए उन्होंने कर्म को लौकिक स्वरूप दिया था—

**कर्म प्रपान विदव हरि राता ।**

**जो अस करे सो तस कलि खाता ॥**

साथ ही वे ईश्वरवादी भी थे, इसीलिए उन्होंने यह भी कहा—

**जो हरि तर्क बढ़ावहि माता ।**

**होइहं वही जो राम रचि राता ॥**

मनुष्य विस्वातपूर्वक, तर्क-रहित होकर कर्म करे, पल की चिन्ता

न करे, अन्तर्गत की विद्या उस की वस्तु है—

शोर सुषारण तो सब भली ।

बल्य कृता भली कृता भवती ॥

इस प्रकार शीघ्र का विशेषगन्तव्य विद्यालयीय शिक्षण-प्रणाली अन्तर्गत योग सुषारण के राम-बाण का लक्ष्य है । राष्ट्रीय विद्यालय के संलग्न अन्तर्गत योग के जीवन उद्देश्य निम्नलिखित हैं, विद्यार्थी शान्तता को अपने राष्ट्रीय कामयोग में एक पक्ष के दिया है ।

ये विद्यालयीय के महाभारत में एक दिन भारत की अपनी इसी गति को देख कर सुषारण की होगी । इस वैज्ञानिक युग में, इस अन्तर्गत सुषारण में, यदि किसी को गन्तव्य का सर्वश्रेष्ठ युग उत्पन्न करने का है तो इसी भारत को और यह महायुग है हमारा बाण । जीवन-मार्गों की भीड़ में ये विद्यार्थी अपनी अनुविद्या में पद-गन्तव्य को एक, यह भारत को और छोटा जा रहा है, गांधीजी की भी उगी जोड़-जोड़ हो रहे । यह भारत के जीवन में राम-बाण को जगा रहा है । भारत की रूढ़ि के उग महावैज्ञानिक का गन्तव्य हमें महामन्त्र निरोपण है ।

अन्तु हम महामन्त्र होकर उगमे गीन्दर्व-बला की भी भीत (अनुमी) लेंगे, जंगे हमने प्रभु ने यह जीवन मांगा है । हम कहेंगे—बाण, हमें हमारे राम-बाण के आध्यात्मिक समुद्र में वृष्ण-बाण की एक गार्हस्थि कह-नाला होकर आना चाहते हैं ।

(७)

(वृष्ण-बाण मानव-जीवन का भावयोग है । ज्ञानयोग और कर्मयोग की भाँति ही यह भी एक दिव्य योग है । सुलसी ने ज्ञानयोग और कर्मयोग इसी भावयोग का योग देकर योगियों की सम्पत्ति (राम-चरित्र) को हस्तों के उपयोग के लिए भी सुलभ किया था, क्योंकि वे एक समन्वयकार कृत कलावान् थे । ज्ञानयोग, कर्मयोग और भावयोग ही क्रमशः सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् हैं ।) वृष्ण-बाण





को अलग रगकर ही हमारे साहित्य में यैष्णव कला को विनम्र स्ति  
दे सके ।

मुघल युग में दाम्पत्य-भाव गवट में पड़ गया था । विजातीय संघर्ष  
अपने सद्गुणों के साथ ही अपनी विलासिता भी ले आई थी । हमारे  
दाम्पत्य का जो गनीत्यपूर्ण आदर्श था, विजातीय रीति-नीति उन्ने नि  
थी, उसमें मानवी रसज्ञ के लिए विशेष नियन्त्रण न था । नृपतियों के  
विलासिता के कारण जनसाधारण के लिए निश्चित गार्हस्थिक जीवन दुर्ल  
भ था । फलतः यैष्णव गृहस्थों की जो दाम्पत्यिक भूख थी वह शृंगारी कवियों  
की राधाकृष्ण-मूलक कविताओं में प्रकट हुई । राधाकृष्ण की भावियों ने  
हमारे सामाजिक जीवन में विजातीय रीति-नीति की बाढ़ को नवीन  
युग आने तक मिट्टी के बांध (शारीरिक सौन्दर्य) से रोका । तत्कालीन  
वेदा-भूषा की भांति उन्होंने अपने काव्य में भी कुछ कलाविन्यास शास्त्र-  
जाति से लिये, किन्तु आत्मा (संस्कृति) यथाशक्ति अपनी ही रखी ।  
हम तो अपने उन कवियों को बधाई ही देंगे कि उन्होंने अपनी कविता को  
सर्वांशतः विजातीय ही नहीं बना डाला, बल्कि गृहस्थों के हृदय में राधा-  
कृष्ण की प्रेम-प्रतिमा हनुमान् के हृदय में राम की मूर्ति की भांति स्था  
पित कर रखी । उनकी कविताओं में जो अतिरजकता (उत्कट शृंगार)  
है वह नैतिक न्याय-तुला पर तौलकर नीति-विवेचन की चीज नहीं, बल्कि  
वह कला और इतिहास-विवेचन की चीज है । सूर और तुलसी की भांति  
यदि उन्होंने भी कोई दार्शनिक सत्य प्रकट किया होता तो उसका नैतिक  
विवेचन भी हो सकता था, किन्तु जो उनका क्षेत्र नहीं, उन्हें उस क्षेत्र में  
रखकर देखना गुलाब को सरोवर में देखना है । अतएव, कला की दृष्टि से  
उनमें जो च्युति दीख पड़े, साहित्यिक सत्य के उद्घाटन के लिए उसी का  
विवेचन होना चाहिए । अश्लीलता उस युग की वह विकट प्यास है, जिससे  
विजातीय परिस्थितियों के कारण हिन्दू दाम्पत्य भाव का दारिद्र्य प्रकट  
होता है, अतएव शृंगारिक कवि महानुभूति के पात्र है ।

मदिरा से जैसे गला सूख जाता है उसी तरह विलासिता से सामाजिक



में गूर और गुल्मी ने यह प्रकाश करने मनोसहित संस्कृत-साहित्य के ग्रहण किया, इसीलिए उनमें संस्कृत भाषा की स्वच्छ मूर्ति है। इन रिकों में वृत्त-नाम्य और मुनिम भाष्यता ने रम ग्रहण किया, इन रम-ग्रहण में उनकी भाषा-शैली बहुत मजबूत न रहे सही, इसीलिए गूर और गुल्मी की भांति उनमें भारतीय संस्कृति सारद्वयोन्मा की भांति स्वच्छ न होकर एक धुंधली सादानी-जैसी है अवश्य।

सांगान ही नहीं, जिमी भी युग का गमाधान अनीत के सांस्कृतिक कोण में भी है, जैसे 'गीता' में बन्धान्त का गार-अंत। कालावधि में जिस प्रकार मनुष्य का आचार-प्रकार अपने समय का भौगोलिक स्वरूप धारण करता है, उसी प्रकार कला संस्कृति के मूलतन्त्र को बनाये हुए, देश-काल का स्वरूप ग्रहण करती है।

इसी आधार पर मध्ययुग में श्रृंगारिक कवियों ने मुस्लिम कला से आदान लिया था, आधुनिक युग में छायावादी कवियों ने अंगरेजी कला से। अंगरेजी कला बीसवीं शताब्दी की विद्युत् की भांति जगमगाती हुई कला है। किसी भी सजग कला को ग्रहण करने में हमारी संस्कृति उदार है अपने को खो देने के लिए नहीं, बल्कि अपने अस्तित्व को सिन्धु-विस्तार देने के लिए। अपने में ग्राह्यशक्ति तभी आती है जब हम में अपनी संस्कृति और कला की क्षमता एक मूलधन के रूप में बनी रहती है। छायावाद के आधुनिक प्रवर्तकों ने अपना मूलधन संस्कृत और हिन्दी साहित्य से पाया है, नवीन शताब्दी के प्रकाश में नवीन वर्णच्छटा से उसी को रूपान्तर दिया है। आदान उदान सार गुणवर्धन

साहित्य में जब-जब आदान चलेगा, तब-तब उस आदान में अपने मूलधन की ओर संकेत देने के लिए हमारे कुछ पूर्वज कवि हमें अपना सांस्कृतिक सन्देश भी सुनाते रहेंगे। मध्यकाल में सूर और तुलसी ने सांस्कृतिक संकेत दिया, आधुनिक काल में भारतेन्दु जी, गुप्त जी और प्रसाद जी ने, भारतेन्दु और प्रसाद ने अपने नाटकों में और गुप्त जी ने अपनी कविताओं में। यह अवश्य है कि इन साहित्यिकों का सामाजिक ढांचा पुराना है, जब कि आवश्यकता है सांस्कृतिक चेतना धारण करने के लिए नवीन शरीर की भी।

# महाकवि सूरदास

(ले० स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की परम्परा भी हिन्दुओं के स्वानन्द के साथ ही साथ बीरों ने अपने पराक्रम के बाल के अंधरे में जा छिपी। उम होत दशा के बी ना पर गहरी उदासी गीत किस मुह से गाते और किन बानों से गुनते ? ज बानो मुरझाए मन को छा गई थी। राम और रहीम को एक बताने वाली खरबाद का मुर मिला हरा न कर सकी; क्योंकि उसके भीतर उम बट्टर एकेमे आखो देख रहे थे। हुआ था, जिनका ध्वसकारी स्वरूप लोग नित्य अपनाए रखने की वामना सर्वस्व गवाकर भी हिन्दू जानि अपनी स्वतन्त्र सत्ता बचिर-मचित सत्कार नहीं छोड़ सकी थी। इसमे उमने अपनी सम्पत्ता, अपना, और उनकी भक्ति आदि की रक्षा के लिए राम और कृष्ण का आश्रय लिमजित प्रकार वग देश का सोत देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया। राय ने परम भाव की में कृष्ण भैतन्य ने उसी प्रकार उत्तर भारत में बल्लभाचम कहते हैं, जीवन मे उस आनन्दविधायनी कला का दर्शन कराकर जिसे प्रेइस लोक का सुखद सरमता वा संचार किया। दिव्य प्रेम-मगीत की धारा में गई। पक्ष निस्तर आया और जमतो हुई उदासी या खिन्नता वा की कठोरता में दब जयदेव की वाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जो कालगत होकर मिथिला गई थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिऔर आये चलकर की अमराइयो में विद्यापति के कोकिलकठ से प्रकट हुई वन लगी। आचार्यों ब्रज के करील-कुजो के बीच फैले मुरझाए मनो को मीन कीतन कर उठी, की छाप लगी हुई आठ बीणाए श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का मूरदास की बीणा जिनमें सबसे ऊची, मुरीली और मधुर प्रकार अर्धे कठिरने लगे। निर्गुण की थी। ये भक्तकवि सगुण उपासना वा रास्ता साफ कामना का हृदय उपासना की नीरसता और अप्राप्त्यता दिखाते हुए ये उवा प्रेममय रूप हैं याही स्वरूप सामने लाने में लग गए। इन्हीने भगवान् ।

जिसे हमने हृदय की कोमल कृतियाँ के ही माध्यम और माध्यम नहीं लिए।  
 भाग जो इनके अनुगामी शृंगार-भाव हुए थे भी उन्हीं कृतियों में ही रहे।  
 हृदय की अन्य कृतियों (अंगार भाति) के रंगरंगारी का भी यदि वे  
 चाहते तो शृंगार में ही मिल जाते, पर उनकी ओर वे न बढ़े। भगवान् का  
 यह स्वभाव स्वयं पद्यों में ही मिलता था — वैष्णव प्रेम था — पर उन कवन  
 नीरास के कारण जगता के हृदय में जीवन की ओर वे एक प्रकार की जो  
 मदति ही उत्पन्न हो गयी थी उन्हीं हृदयों में उपयोगी गिट्ट हुआ। मनुष्य के  
 शौचपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव  
 कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम जीने की राह  
 बनी रहने दी।

मान्यकाल और दीयनकाल कितने मनोहर हैं। उनके बीच की नाता  
 मनोरम परिस्थितियों के विनाद चित्रण द्वारा शूरदास जी ने जीवन की जो  
 रमणीयता सामने रखी उन्हीं गिरे हुए हृदय नाच उठे। 'वात्सल्य' और  
 'शृंगार' के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से  
 किया उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक  
 लिए। उक्त दोनों रसों के प्रत्यक्ष रतिभाव के भीतर की जितनी  
 अनसुख कृतियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर  
 के उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में शृंगार का स्वर-  
 गत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया हो सूर ने। उनकी उमड़ती  
 बाग्यारा उदाहरण रचने वाले कवियों के समान गिनाए हुए संचारियों से  
 कर चलने वाली न थी। यदि हम सूर के केवल विप्रलम्भ शृंगार को ही  
 , अथवा 'भ्रमर-गीत' को ही देखें तो न जाने कितने प्रकार की मानसिक  
 शाए ऐसी मिलेंगी जिनके नामकरण तक नहीं हुए हैं। मैं इसी को कवियों  
 'पहुँच' कहता हूँ। यदि हम मनुष्यजीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को लेते हैं तो  
 (दासजी की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है। पर यदि उनके चुने हुए क्षेत्रों  
 शृंगार और वात्सल्य) को लेते हैं तो उनके भीतर उनकी पहुँच का विस्तार  
 अधिक प्रतीत है। उन क्षेत्रों में उत्तम श्रवण

रति का नहीं। बात यह है कि मूर की 'गीत-वाच्य' की जो परम्परा (चमदेव और पिछाननि की) मिश्री वह शृंगार की हो थी। हमी में मूर के गीत में भी उनकी प्रधानता रही। दूसरी बात है उपामना का स्वरूप। मूरदामजी बल्लभाचार्य के गिण्य थे, जिन्होंने भक्तिमार्ग में भगवान् का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित करके उसके आश्रमण द्वारा 'सायुज्य मुक्ति' का मार्ग दिखाया था। भक्ति-साधना के इस चरम लक्ष्य या फल (सायुज्य) की ओर मूर ने बहो बहो रावेत भी किया है जैसे—

सीत उष्ण शुभ दुःख नहि मानं, हानि भए कुछ सोच न राचं।

जाय समाय मूर या निधि में, यहुरि न उलटि जगत में नाचं।

जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है उसी प्रकार प्रेम-भाव की चरम सीमा आश्रय और अवलम्बन की एकता है। अतः भगवद्भक्ति की साधना के लिए हमी प्रेम-भाव को बल्लभाचार्य ने सामने रखा और उनके अनुयायी कृष्ण-भक्त कवि हमी को लेकर चले। गोस्वामी तुलसीदासजी की दृष्टि व्यक्थिगत साधना के अतिरिक्त लोकपक्ष पर थी, इसी से वे मर्यादा पुरुषोत्तम के चरित को लेकर चले और उनमें लोक-रक्षा के अनुकूल जीवन की और और धृतिषी का भी उन्होंने उत्कर्ष दिखाया और अनुरजन किया।

उन प्रेमभाव की पृष्टि में ही मूर की वाणी मुख्यतः प्रयुक्त जान पड़ती है। रतिभाव के तीनों प्रबल और प्रधानरूप—भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दाम्पत्य रति—मूर ने लिये हैं। यद्यपि पिछले दोनों प्रकार के रति-भाव भी कृष्णोन्मुख होने के कारण तत्त्वतः भगवत्प्रेम के अंतर्भूत ही हैं पर निरूपण-भेद में और रचना विभाग की दृष्टि में वे अलग रखे गए हैं। इस दृष्टि से विभाग करने से विनय के जितने पद हैं वे भगवद्विषयक रति के अन्तर्गत और आवेंगे; बाललीला के पद वात्सल्य के अन्तर्गत और गोपियों के प्रेम संबंधी पद दाम्पत्य-रति-भाव के अन्तर्गत होंगे। हृदय से निकली हुई प्रेम की इन तीनों प्रबल धाराओं में मूर ने बड़ा भारी सागर भरकर तैयार किया है।







विस्तार नहीं है जिसके भीतर नई-नई वस्तुओं और व्यापारों का स्रोत होता चलता है। लोक-सघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना का उद्देश्य नहीं है, उनकी रचना जीवन की अनेकरूपता की ओर नहीं है; बाल-श्रीडा, प्रेम के रग-रहस्य और उसकी अतृप्त वासना तक ही गई है। जीवन की गभीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण जन्म वस्तु-नाभीय नहीं है जो गोस्वामीजी की रचनाओं में है। परिस्थिति की गीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गभीरता नहीं दिखती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग साली बैठे का कान का आई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थी। गोपियों के गोपाल केवल दो बार कोस दूर के एक नगर में राजमुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ शीडा करते-करते किसी कुज या झाड़ी में जा छिपते हैं; या यह कहिए कि थोड़ी देर के लिए अन्तर्धान हो जाते हैं। वस, गोपियाँ मूर्च्छा कर गिर पड़ती हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ चलती है। वियोग-दशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें तो वियोग-वर्णन असंगत प्रतीत होगा। पर, जैसा कहा जा चुका है, एक प्रबन्ध-काव्य नहीं है जिसमें वर्णन की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता वर्णन में घटना या परिस्थिति के विचार का बहुत कुछ योग रहता है पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बाल-श्रीडा को थोड़ा बहुत देखते हैं। कृष्ण के नेत्र बाल-परिवार का प्रभाव नन्द यशोदा आदि परिवार के लोगों और पशुगियों पर पड़ा दिखाई देता है। सूर का बाल-श्रीडा-वर्णन ही पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित है। कृष्ण के छोटे-छोटे पैरों में चलने, मूँह में मखन लिपटाकर भागने या इधर-उधर नटगद्दी करने पर नन्द बाबा और यशोदा भैया का कभी पुनरुत्पन्न होता, कभी सीसना, कभी पशुगियों का घेँघ से उगाहना देना आदि बातें एक छोटे से जन-नामूह के भीतर आनन्द का लहर करती दिखाई नहीं दे। एगी





दान दान दान, धन धन धन,  
 नरि नरि नरि, नरि नरि नरि।  
 नरि नरि नरि, नरि नरि नरि, *नरि नरि नरि*  
 नरि नरि नरि नरि नरि नरि नरि ॥  
 नरि नरि नरि नरि नरि नरि नरि,  
 नरि नरि नरि नरि नरि नरि नरि।  
 नरि नरि नरि, नरि नरि, नरि नरि,  
 नरि नरि नरि नरि नरि नरि नरि ॥

पर जैसा कहने का रीति है, मन्त्रों और श्रुतियों और वाक्यान्वय की ही है। फिर हमें न कहनी है कि उन श्रुतियों में से से मन्त्रों से यह कथि है।

यही बात भी मूल की रचना की सामान्य दृष्टि में गभीरा हुई।  
 जब इन मन्त्रों की इन श्रुतियों का थोड़ा बहुत शिष्टान्त होना चाहिए, जिनके कारण हिंदी-साहित्य में इनका स्थान इतना ऊँचा है।  
 ध्यान देने की गहने पार्श्व बात यह है कि वाक्य की हुई व्रजभाषा में सबसे पहिली साहित्यिक दृष्टि इन्हीं की मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आख्य में छात्र देनी है। पहिली साहित्यिक रचना और इनकी प्रकृति, प्रगल्भ और वाक्यान्वयपूर्ण कि अगले कवियों की श्रुतियों और वाक्यान्वय चर्चिता इनकी जूटी जान पड़ती है। यह बात हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखनेवालों को उत्पन्न में उत्पन्नवाली होगी। सुरमागर किसी पदमे से चली आती हुई परम्परा का—घाटे वह मीनिक ही रनी हो—पूर्ण विकास सा जान पड़ता है, वाक्यवादी परम्परा का मूल रूप नहीं

यदि भाषा को लेकर देखने हैं, तो वह व्रज की चली बोली होने पर भी एक साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है, जो और प्राचीन के कुछ प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ ही साथ पुरानी काव्य-भाषा अप-भ्रंश के शब्दों को लिये हुए है। मूल की भाषा बिल्कुल बोलचाल की व्रज-भाषा नहीं है। 'जाको', 'तामी', 'वाको', चली व्रजभाषा के इन रूपों के समान ही 'जैहि', 'तेहि', आदि पुराने रूपों का प्रयोग बराबर मिलता है,

जो अगली की घोलनाच में तो अब तक हैं, पर प्रज की बोधवान में बुराई  
 समय में भी नहीं थे। पुराने निरुपचार्यक 'पै' का व्यवहार भी पाया  
 है, जैसे, 'जाहि गये मोई पै जाने प्रेम-यान अनिवारो'। 'मोई', 'अन',  
 'हमार' आदि प्रयोग भी बराबर, पाए जाते हैं। कुछ प्रयोगों में  
 भी मौजूद हैं, जैसे, महगी के अर्थ में 'प्यारी' शब्द। ये सब बातें एक बात  
 काव्य-भाषा के अस्तित्व की सूचना देती हैं।

अब हम गद्य में उन प्रयोगों को लेते हैं जिनमें मूल की प्रकृति  
 पूर्णतया लीन हुई है। कृष्ण-जन्म की आनन्द-वर्षाई के उपरान्त ही बाल-  
 लीला का आरम्भ हो जाता है। जितने विस्तृत और विनाश रूप में  
 बाल्य-जीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किन्हीं  
 कवि ने नहीं किया। संशय से लेकर कोमार अवस्था तक के क्रम से  
 लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं, उनमें केवल बाहरी रूपों और  
 चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, कवि ने बालकों के  
 अन्तःप्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक बाल्य-भावों की सुन्दर  
 स्वाभाविक व्यञ्जना की है। देखिए, 'स्पर्द्धा' का भाव, जो बालकों में  
 स्वाभाविक होता है, इन वाक्यों से किस प्रकार व्यञ्जित हो रहा है—

मैया कबहि बड़ंगी छोटी ?  
 कित्ती बार मोहि हूय पिपत भई, यह अजहूँ हँ छोटी ।  
 तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों हबहँ लांबी मोटी ॥

बाल-चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भांडार  
 और कहों नहीं है जितना बड़ा मूरसागर में है। दो-बार चित्र देखिये—

(१) कत ही आरि करत मेरे मोहन यो तुम आंगन लोटी ?  
 जो मागहुँ सो देहुँ मनोहर, यह बात तेरी छोटी ।  
 मूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लहुटि लिये छोटी ॥

(२) सोभित पर नवनीत लिए ।  
 मुदरन चलत, रेनु तन मंजित, मुख दधि लेप किए ॥

(३) मित्रजन घटन जमोना मैया ।

कादरान हरि पाति गीतन, इगलाय घरं पैया ।

(४) पाटनी हरि दं तनय मल्लो ।

आरि बरं मनमोहन मेरो, अंदा आनि गल्लो ।

प्याकुन मयन मयनिनी रीनि, दयि न्ये दारकि रह्यो ।

हार-जीन के खेल में बाटनी के 'खोम' के बंने म्यामाविक ।  
ने रये हैं—

खेलन में जो काफ़ी गोमंया ।

हरि हारे, जीने थोड़ामा, घरचन ही बन करत रितंया ॥

जानि-यांनि हमनें बटु नाहि, न घमन तुम्हारी छंया ॥

अनि अधिकार जनायत घाने अधिक तुम्हारे है बटु गंया ॥

अब यहाँ पर थोड़ा इगला भी निपंय हो जाना चाहिए कि इन टाओ का वाक्य-विधान में क्या स्थान होगा। वात्सल्य रस के अलक कृष्ण आलम्बन हांग और नन्द या यशोदा आश्रय। अतः ये चे भुव के अन्तर्गत आती हैं, पर आलम्बनगन चेष्टायें उद्दीपन के ही सत्वनी हैं। इसमें यह स्पष्ट है कि ऐसी चेष्टाओं का स्थान भाव-विहीन भीतर है। उन्हें अलवार-विधान के भीतर घसीटकर 'स्वभावो लवार बहना मेरी समझ में ठीक नहीं। ✓

बाद-लीला के आगे फिर उस गो-चारण का मनोरम दृश्य आता है जो मनुष्य-जाति की अत्यन्त प्राचीन वृत्ति होने के कारण सो में वाक्य का प्रिय विषय रहा है। यवन देश (यूनान) के 'पशुनव्य' (Pastoral Poetry) का मधुर सस्कार यूरोप की कवित्व तक कुछ-न-कुछ चला ही जाता है। कवियों को आकर्षित करने पो-जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचलये सबसे अधिक अवकाश। वृषि, वाणिज्य आदि और व्यवसायों चलकर निवले, वे अधिक जटिल हुए—उनमें उतनी स्वच्छ रही। कविश्रेष्ठ कालिदास ने अपने रघुवश वाक्य के आरम्भ में नि

को गोपियों के साथ सम्बन्ध दिखाकर दोनों मन्दिरों के बीच  
 दिखाया है। मन्दिरों में न मन्दिरों के बीच गोपियों के  
 मन्दिर-मन्दिर दोनों का दिखाया गया है। यथा—

मनोहरा ! मन्दिरों के बीच।

मनोहरा के बीच मन्दिरों के बीच, मन्दिरों के बीच।

✓ मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच  
 मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच  
 मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच

मनोहरा के बीच मन्दिरों के बीच, मन्दिरों के बीच।

मनोहरा के बीच मन्दिरों के बीच, मन्दिरों के बीच।

✓ "जो मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच  
 है। मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच  
 का उद्देश्य करती है। इसी न मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच  
 मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच  
 मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच

✓ मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच  
 के प्रेम का उद्देश्य होता है। गोपिया मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच  
 और मनोहरा के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच  
 अवस्था की स्वाभाविक चपलतावत्ता उनसे छेड़-छाड़ करना आरम्भ  
 है। हान-परिहान और छेड़-छाड़ के साथ प्रेम-व्यवहार का अत्यन्त  
 विक आरम्भ मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच  
 किसी की एक झलक पाकर हाय-हाय करते हुए इस प्रेम का आरम्भ  
 हुआ है। नित्य अपने बीच चलते-फिरते, हसते-खेलते, वन में गाय  
 देखते गोपिया मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच  
 हम जीवन्तोत्साव के रूप में पाते हैं; सहसा उठ खड़े हुए  
 विप्लव के रूप में नहीं, जिनमें अनेक प्रकार के प्रतिवन्धों  
 लम्बी-चौड़ी कथा खड़ी होती है। मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच मन्दिरों के बीच

कृष्ण और गोपिया पशियों के समान स्वच्छन्द हैं। वे लोक-बन्धनों से बंधे हुए नहीं दिखाये गये हैं। जिस प्रकार के स्वच्छन्द समाज का स्वप्न अंग्रेज कवि शेली देखा करते थे उसी प्रकार का यह समाज मूर ने चित्रित है।

मूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप-लिप्ता और साहचर्य दोनों का योग बालक्रीडा के सखा-सखी आगे चल कर यौवन-क्रीडा के सगा-नगी होते हैं। गोपियों ने उद्धव से साफ कहा है—“लरिकाई को प्रेम कहो, कंगे छूटें?” बेचल एक साथ रहते-रहते भी दो प्राणियों में स्वभावतः हो जाता है। कृष्ण एक तो बाल्यावस्था से ही गोपियों के बीच रहे, मुन्दरना में भी अद्वितीय थे। उन गोपियों के प्रेम का क्रमशः दिव्यता आधुनिक शक्तियों के प्रभाव से होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक होता है। बालक्रीडा इस प्रकार क्रमशः यौवन-क्रीडा के रूप में परिणत हो गई है कि सधि का पता ही नहीं चलता। रूप का आकर्षण बाल्यावस्था में आरम्भ हो जाता है। राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति ने रूप के आकर्षण द्वारा ही पड़ी है—

(क) खेलत हरि निकतो धन खोरी ।

गए दयाम रवि-स्तनया के तट, अंग लसति चंदन की खोरी ॥

औषक ही देखी तहें राधा, नैन बिसाल, भाल दिए खोरी ।

भूर दयाम देखत ही खोरी, नैन नैन मिलि परी ठगोरी ॥

(ख) ब्रूमत दयाम, “कोन तू, खोरी ।

बहूँ रहति, बाकी तू बेड़ी ? देखी नाहि बहूँ बज-खोरी” ॥

“कहे को हम बज तन आवति ? खेलति रहति आपनी खोरी ।

कुनति रहति अदनन भेंद डोटा करत रहत माधन दधि खोरी” ॥

“जुहरी बहा खोरि हम लंहे ? खेलत चलो सग मिलि खोरी” ।

धूरदास प्रभु रतिक-निरोधनि बातन भुरद राधिका भोरी ॥

इस खेल ही खेल में इतनी बड़ी बात पैदा हो गयी है जिसे प्रेम होते हैं। प्रेम का आरम्भ उमर पक्ष में सम है। आगे चलकर कृष्ण के



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

मथुरा चले जाने पर उसमें कुछ विषमता दिखाई पड़ती है। वृष्ण रंग गोपियों को भूले नहीं है, उद्धव के मुख से उनका वृत्तान्त सुनकर वे सब में आसू भर लेते हैं, पर गोपियों ने जैसा वेदनापूर्ण उपालम दिया है उसे अनुराग की कमी ही व्यंजित होती है।

पहले कहा जा चुका है कि शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूर समता को और कोई कवि नहीं पहुँचा है। शृंगार के संयोग और निःसंयोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं मिला। वृन्दावन में कृष्ण और गोपियों का सम्पूर्ण जीवन क्रीड़ामय है और सम्पूर्ण क्रीड़ा संयोग-भक्ष है। उसके अन्तर्गत विभावों की परिपूर्णता और राधा के अग-प्रत्यग की शोभा के अत्यन्त प्रचुर और चमत्कार वर्णन में तथा वृन्दावन के करोल-कुजों, लोती-लताओं, हरे-भरे कण खिली हुई चादनी, कोकिल कूजन आदि में देखी जाती है। अनुभूति और संचारियों का इतना बाहुल्य और कहा मिलेगा ? सारांश यह संयोग-मुख के जितने प्रकार के क्रीड़ा-विधान हो सकते हैं वे सब पूरा कर इकट्ठे कर दिये हैं। यहां तक कि कुछ ऐसी बातें भी आ गई हैं—जैसे, कृष्ण के कंधे पर चढ़कर फिरने का राधा का आग्रह—कम रसिक लोगों को अरुचिकर स्त्रंणता प्रतीत होगी।

सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम-मगीतमय जो की गहरी चलती धारा है, जिसमें अवगाहन करानेवाले को दिव्य मा के अनिर्वक्त और कही कुछ नहीं दिखाई पड़ता। राधा-कृष्ण के रंग-रस के इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं कि सूर का हृदय प्रेम की नागा उम का अशय भाजार प्रतीत होता है। प्रेमोदय-नाग की विनोद-मूर्ति व हृदय-प्रेरित हावों की छटा चारों ओर छाग्री पड़ती है। राधा और वृ का गाय चराने समय वन में भी रास हो जाता है, एक दूसरे के पर आने-ज भी सगे हैं, इसलिये ऐसी-ऐसी बातें नित्य न जाने कितनी दुआ करती हैं—

(क) हरि स्यो ग्यारी, हरि, धारवि गैरी ।

महिन बसात लाल बगु तुमारी साथे ग्याग बगुंसी ॥

(१) ऐसे तुम नहीं हो जैसे हमारे ।

हम क्या होकरि चुपचाप, तुम क्या कर सकते ठहरो ।

मोह-हारी, हम सदा-सदा, मोह-दिगुल-जति ही रहि बारी ॥

(२) तुम में क्यों तुमसे मैला ?

हम मिथ्या, हम क्या सत्य, तुम्हि निर्दिष्टो है मैला ?

कलाम के हम काल का हि दाम-दार नु क्या करो उपास मराने  
तो है, मारा जा उपास देना है हमें प्रेम के आविर्भाव की जैसी मोहो-  
री और मोहो-रानी बनना है—

॥ १ ॥ दाम-दार नु तू जति करि आवे ।

॥ २ ॥ "मैं क्या करी मुक्ति लही लगनरि, घर में मोहि बुलावे ॥

॥ ३ ॥ मोहो करी मोहि जिनु देखे रहा न मेरी प्राण ।

छोड़ गया मोहो मुनि धर्म, मरि । गिरि आन ॥

करने का सागन यह कि प्रेम ज्ञान की मनापूर्ति का जंगल विमल  
और पूर्ण परिज्ञान मूर को था बैगा और जिनी कवि को नहीं । इनका  
साग मरान-वर्णन कर्मो-बोली प्रेमचर्या है जिसमें आनन्दोन्नत के  
पाने मिलने चर्या का विधान है । राग-रोग, दान-गिरा, मान-लीन  
आदि सब उपास के अन्तर्भूत है । पाँछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रच क  
मिचर्या दिखाने का प्रयत्न किया, पर वह अधिष्ठार एक घर के भीत  
योग-विद्याम की वृत्तिम दिन-चर्या के रूप में है । उसमें न तो वह अनेकमय  
है और न प्राकृतिक जीवन का वह उमंग ।

आत्मचर्या की रूप-प्रतिज्ञा के लिये वृत्ति के राग-प्रत्यय का मूर  
और मरि-पदों में बर्णन किया है, वह तो किया ही है, आश्रय-यक्ष में मे-  
व्यापार और उगने-वधुभूत प्रभाव पर एक दूसरी ही पद्धति पर बड़ी  
रम्य उक्तिवा वृत्ति अधिक है । का को हृदय तक पहुचानेवाले नेत्र ही है  
इससे हृदय की सारी आकुलता, अभिगता और उत्कटा का दोष इन  
रूपवाहको से निर मरकर मूर ने इनके प्रभाव-प्रदर्शन के लिये बड़े अग  
रग निराले है । यही इसकी न बुजनेवाली व्यास की परेशानी दिखाई है

कही इनकी चपलता और निरंकुशता पर इन्हें कोसा है। पीछे विशाल रामसहाय, गुलाम नबी और रसनिधि ने भी इस पद्धति का बहुत कुछ अनुकरण किया पर यहाँ तो भडार भरा हुआ है। इस प्रकार के नैव-वर्णन आश्रय-पक्ष और आलम्बन-पक्ष दोनों में होते हैं। गूर ने आश्रयपक्ष में ही इस प्रकार के वर्णन किये हैं; जैसे—

मेरे गंगा बिरह की घेलि बई ।

सोंपत नीर नैन के राजनी भूल पताल गई ॥

बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई ॥

अब कैसे निरुधारी, सजनी सब तन पसरि छई ॥

आलम्बन-पक्ष में गूर के नैव-वर्णन उपमा-उत्प्रेक्षा आदि से नये वर्णन की शैली पर ही है, जैसे—

देति, री ! हरि के चंचल नैन ।

खंजन मीन मृगज सपलाई नहि पटतर एक तैग ॥

रागिबदल, इदीवर, शतदल कमल कुतैसय जाति ।

निसि भुद्रित, प्रातहि ये बिगसत ये बिगसत दिन रात ॥

अरुन असित सित झलक पतन प्रति को घरनै उपमाय ।

मनी सरस्वति गंग जमुन निलि आगम कोन्हो आय ॥

आलम्बन में स्थित नैव क्या क्या करते हैं, इसका वर्णन गूर ने बहुत ही कम किया है। पिछले कुछ कवियों ने दग पक्ष में भी समतारापूर्ण चकियाया करी है। जैसे गूर ने तो "अरुन, अमित गिन झलक" पर गंगा यमुना और सरस्वती की उत्प्रेक्षा की है, पर गुलाम नबी (रसलीन) ने जमी झलक की यह करतूत दिखाई है—

अमिय हलहल मरु भरे देन क्याग रतागर ।

जिदत, मरुत, मरुति मरुति परत जेति धिपारा इरु मार ॥

मुरली पर करी हुई जियावा भी ध्यान देने योग्य है, क्योंकि उनमें प्रेम की मयीयता टारती है। यह वह मयीयता है, जो भरे हुए हृदय से छन्दस्वर निर्जीव वस्तुओं पर भी अपना रंग पड़ाती है। मोर्तियों की छेद-

छाड़ कृष्ण ही तक नहीं रहती; उनकी मुरली तक भी—जो जड़ और निर्जीव है—पहुँचती है। उन्हें यह मुरली कृष्ण के संबंध में कभी इठलाती, कभी चिन्ताती और कभी प्रेमगर्व दिखाती जान पड़ती है। उसी संबंध-भावना में वे उसे कभी फटकारती हैं, कभी उमका भाग्य सराहती हैं और कभी उसमें ईर्ष्या प्रकट करती हैं—

(क) माई री ! मुरली अति गर्व काहू बसति नहीं भाग ।

हरि के मृत कमल देन पायो गुनराज ॥

(ख) मुरली राज मोरानहि भावनि ।

सुन री सती ! जदनि नंदनदहि माना भांनि नजावनि ।

राखति एक पाये ठाढ़े करि, अति अधिकार जनाननि ॥

आजुन पीडि अपर-राजना पर कर-पल्लव सर्षि पर पलुआवनि ।

भैंकुटी कुटिल, कोप नागानुड एम पर कोपि फँपावति ॥

हृदय के पारखी मूर ने मयघ-भावना की शक्ति का अच्छा प्रसार दिखाया है। कृष्ण के प्रेम ने गोपियों में इतनी मजीबता भर दी है कि कृष्ण तथा कृष्ण की मुरली तक में छेड़छाड़ करने की उनका जी चाहता है। हवा से लटने वाली स्त्रियाँ देखी नहीं तो कम से कम गुनी बहनों ने होगी, चाहे उनकी जिन्दादिली की कद्र न की हो। मुरली के संबंध में कहे हुए गोपियों के वचन से मानसिक तत्त्व उपलब्ध होते हैं—आलंबन के साथ किसी वस्तु की संबंध-भावना का प्रभाव तथा अत्यन्त अधिक या फातनू उमग के स्वरूप मुरली-सावधिनी शक्तियों में प्रयानता पहली बात की है, यद्यपि दूगने तत्त्व का भी मिश्रण है। फातनू उमग के बहुत अच्छे उदाहरण उन समय देखने में आते हैं जब कोई स्त्री अपने प्रिय को कुछ दूर पर देख कभी ठोकर लगाने पर बक-बत्पर को दो-चार मीठी मालिया गुनाती है, कभी रास्ते में पड़ती हुई पेड़ की टहनियों पर भ्रू-भंग सहित झुगलाती है और कभी अपने किसी साथी को यो ही टवेल देती है।

यह सूचित करने की आवश्यकता तो बदाबितु न हो कि रूप पर मोहित होना, दयंत के लिये आवृत्त रहना, विषम में छपना आदि गोपियों के

पद्य में जितना कहा गया है उतना कृष्ण-यश में नहीं। यह यहाँ के संगीत-कवियों की—विशेषतः फुटकर पद्य रचनेवालों की—सामान्य प्रवृत्ति हो रही है। तुल्यानुराग होने पर भी स्त्रियों की प्रेम-दशा या वियोग-दशा का वर्णन करने में ही यहाँ के कवियों का मन अधिक लगा है। पुराने प्रबंध-नाम में तो यह भेद उतना लक्षित नहीं होता पर पीछे के काव्यों में यह स्पष्ट झलक रहा है। वाल्मीकिजी ने रामायण में सीता-हरण के उपरान्त राम और सीता दोनों के वियोग-दुःख-वर्णन में प्रायः समान ही शब्द-व्यय किया है। कालिदास ने मेघदूत का आरम्भ यश की विरहावस्था से करके उत्तर-मेघ में यशिनी के विरह का वर्णन किया है। उनके नाटकों में भी प्रायः यही बात पाई जाती है। अतः मेरी समझ में शृंगार में नायिका की प्रेम-दशा या विरह-दशा का प्राधान्य श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण की कृष्णलीला के अधिकाधिक प्रचार के साथ हुआ, जिसमें एक ओर तो अनन्त सौन्दर्य की स्थापना की गई और दूसरी ओर स्वाभाविक प्रेम का उदय दिसाया गया।

८. पुरुष आलवन हुआ और स्त्री आश्रय। जनता के बीच प्रेम के इस स्वरूप ने यहाँ तक प्रचार पाया कि क्या नगरों में क्या ग्रामों में, सबत्र प्रेम के गीतों के नायक कृष्ण हुए और नायिका राधा। 'बनवारी या बन्हैया' नायक का एक सामान्य नाम सा हो गया। दिल्ली के पिछले बादशाह मुहम्मद शाह रणीले तक को होली के दिनों में 'बन्हैया' बनने का शौक हुआ करता था।

और देशों की फुटकर शृंगारी कविताओं में प्रेमियों के ही विरह आदि के वर्णन की प्रधानता देखी जाती है। जैसे एशिया के अरब, फारस आदि देशों में वैसे ही यूरोप के इटली आदि काव्य-संगीत-प्रिय देशों में भी यही प्रवृत्ति प्रचलित रही। इटली में पीट्रार्क की शृंगारी कविता एक प्रेमिका के हृदय का उद्गार है। भारत में कृष्ण कथा के प्रभाव से गायक के भावगर्क रूप में प्रतिष्ठित होने से पुराणों की प्राधान्य-व्यवस्था अधिन गूँथ हुई। आगे चलकर पुरुषत्व पर दृढ़ता कुछ बुरा प्रभाव भी पड़ा। बट्टोरे शैली, पराक्रम आदि पुराणोचित गुणों से मुह मोह 'बट्ट-मटक मटक' माने में लगे—बट्टन

पगल तो मांग-पट्टी मुरमे, मिस्री तरु की नौबत पहुंची ! यूरोप में जहाँ स्त्री प्रपान बाजपंक के रूप में प्रतिष्ठित हुई, इसका उल्टा हुआ । वहाँ स्त्रियों के बनाव-सिगार और पहनावे के खर्च के मारे पुरुषों के नाकों दम हो गया ।

मूर के सयोग-वर्णन की बात हो चुकी । इनका विप्रलम्भ भी ऐसा ही विस्तृत और व्यापक है । वियोग की जितनी अतर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब उनके भीतर मौजूद हैं । आरंभ वात्सल्य-रस के नियोग-पक्ष में हुआ है । कृष्ण के मथुरा से न लौटने पर नन्द और मसोदा दुःख के सागर में भग्न हो गए हैं । अनेक दुःखात्मक भाव-तरंगों उनके हृदय में उठनी हैं । कभी मसोदा नन्द से खीझकर बहती है —

छाँड़ि सनेह चले मथुरा, फत दौरि न चोर गह्यो ।

फाटि न गई यज्य फी छापी, फत यह मूल सह्यो ॥

इसपर नन्द मसोदा पर उलट पड़ने है—

तब तू मारिबोई करनि ।

रिसनि दागे रहूं जो छागत, अब लं भाँड़े भरति ॥

रोत कं कर दांवरो लं फिरत घर घर परति ।

बठिन हिय परित तज जो बाँध्यो, अब बूझा करि भरति ॥

यह 'झुझलाहट' वियोग-जन्य है, प्रेम-भाव के ही अन्तर्गत है और कितनी स्वाभाविक है ! गुन्ध-शांति के भग का कंसा यथातथ्य चित्र है । आगे देखिये, गहरी 'उत्प्लुब्धता' और 'अधीरता' के बीच 'विरक्ति' (निर्वेद) और तिरस्कार-मिश्रित 'तिझलाहट' का यह भेल कंसा अनूठा उतरा है । मसोदा नन्द से कहती है—

नंद ! अब तीन ठोंकि यनाय ।

देहु निजा निनि जाहि मधुपुरी जहं गोकुल के राय ॥

'ठोंकि बनाय' में कितनी व्यञ्जना है । 'तुम अपना राज अच्छी तरह संभालो; तुम्हें इतना गहरा शोभ है; मैं तो जाती हूँ ।' एक एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आला दित्ताई दे रहा है । एक वाक्य दो दो, तीन-तीन

0.८ पदा में जितना बताया गया है उतना कृष्ण-यश में नहीं। यह वहाँ के कृष्ण कवियों की—विशेषतः फुटकर पद्य रचनेवालों की—मानान्य प्रवृत्ति है रही है। गुप्तानुराग होने पर भी स्त्रियों की प्रेम-दशा या काम-दशा का वर्णन करने में ही वहाँ के कवियों का मन अधिक लगा है। पुराने प्रबंध-काल में तो यह भेद उतना लक्षित नहीं होता पर पीछे के कालों में यह स्पष्ट झलकता है। यात्कीजी ने रामायण में सीता-हरण के उपरान्त राम और सीता दोनों के वियोग-दुःख-वर्णन में प्रायः समान ही शब्द-व्यय किया है। कान्हो ने मेघदूत का आरम्भ यश की विरहावस्था में करके उत्तर-मेघ में यश की विरह का वर्णन किया है। उनके नाटकों में भी प्रायः यही बात पाई जाती है। अतः मेरी समझ में शृंगार में नायिका की प्रेम-दशा या विरह दशा का प्रकार थोड़ा-भाग्यवत और ब्रह्मरूप-पुराण की कृष्णलीला के अधिवाधिक प्रकार के साथ हुआ, जिनमें एक ओर तो अनन्त सौन्दर्य की स्थापना की गई और दूसरी ओर स्वाभाविक प्रेम का उदय दिखाया गया।

पुरुष आलवन हुआ और स्त्री आश्रय। जनता के बीच प्रेम के इस स्वरूप ने वहाँ तक प्रचार पाया कि क्या नगरों में क्या ग्रामों में, सर्वत्र प्रेम की गीतों के नायक कृष्ण हुए और नायिका राधा। 'बनवारी या बन्ध्या' नायक का एक सामान्य नाम सा हो गया। दिल्ली के पिछले बादशाह हुमायुन शाह रंगीले तक को होली के दिनों में 'बन्ध्या' बनने का शौक हुआ करता था।

और देशों की फुटकर शृंगारी वर्णन की प्रधानता देखी जाती तो मैं वैसे ही यूरोप के इटली पद्धति प्रचलित रही। इटली में हृदय का उद्गार है। भारत में रूप में प्रतिष्ठित होने से पुरुष चलकर पुरुषत्व पर इतका आदि पुरुषोचित गुणों से

गुहार को देखकर दूध बहने लगे हैं। इनमें एक मगगज बहाता है।  
 गदगि में बरि मुरगन को इस गुहार को तो बेगटके सह करने हैं।  
 'यों के छोड़ जाने पर मग-मगन को उनी प्रकार होते हैं, पर "मदनगोपात  
 बना या मन को बंद बना रहनी'। इसमें पहले मगरगात्र में जो मनोहर  
 गुन देखने में आता करता था वह अब आकर गनी दिगार पटना, पर मन  
 को उनकी 'मदुति' गनी जाती—

एहि बेगियां जन ते बज आदने।

दुर्गि तें यह बेनु जयर परि चारंवार बजारो ॥

मयोग के दिनों में जानन्द को तर्गें उठाने वाले प्राकृतिक पदार्थों को  
 विपों के दिनों में देखकर जो दुःख होता है उनकी व्यथना के लिए बवियों  
 में उपासम की चार दहा दिनों में चली आती है। चट्टोपातभगवधिनी  
 बड़ी गुनर बवितारें मरुत-मात्रिय में है। देखिए, मागर-मघन के समय  
 बन्दमा को निकालने वाली नर दम उपासम में, रिम प्रकार गोपियां अपनी  
 दृष्टि दोशनी है—

या मिनू होन बड़ा सर सूनो ?

रेरिन प्रगट कियो प्राचो दिगि, बिरहिन को दुख बूनो ?

सब निरदय गुर, अमुर, शंत, मणि ! सायर सरं समेत ॥ .

पत्थ बहो बर्षा आतु, तमचुर ओ कमलन को हेत ।

जुग जुग जीवं जरा बापुरी मिठे राहु अरु कैत ॥

इसी पद्धति के अनुगार ये विमोगिनी गोपियां अपने उजड़े हुए नीरस  
 जीवन के मेल में न होने के कारण वृन्दावन के हरे भरे पेड़ों को कोमती हैं—

मयुदन ! तुम फल रहन हरे ?

बिरह-विमोग दयामगुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे ?

तुम ही निलज, लाज नहिं तुमको, किर सिर पुटुप घरे ?

सरा स्यार औ मन के पजेह बिक बिक सबन करे ।

कौन राज ठाड़े रहे मन में, काहे न उकठि परे ?

इसी प्रकार रात उन्हें सापिन सी लग रही है। सापिन को पीठ काली



भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही वाक्य गुस्त्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शबलता कहें। भाव-संचामृत; क्योंकि एक ही वाक्य "नन्द ! ब्रज लीजें ठोंक बरन में कुछ निर्वंद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्प इन तीनों की मिश्र व्यंजन-जिसे शबलता ही कहने से सतोप नहीं होता-पाई जाती है। शब्दों के प्रदत्त उदाहरणों में प्रत्येक भाव अलग शब्दों या वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है; पर उक्त वाक्य में यह बात नहीं है।

21 खाल सखाओ में भी यही दशा हो रही है। कभी वे व्याकुल हो अधीर होते हैं, कभी कृष्ण की निष्ठुरता पर दुःख होकर कहते हैं—

भये हरि मधुपुरी-राजा, बड़े बंश कहाय ।

सूत भाग्य ददति विदग्धहि बरनि बसुधौ तान ।

राजभूषन अंग भागत, अहिर कहत लजात ॥

वियुक्त प्रिय के गुण के अनिश्चय की 'शंका' तक न पहुँचती हुई भाव 'दीनता' और शोभ-अन्य 'उदासीनता' किन्तु प्रकार इन वचनों से टट रही है—

सदेमो देखी सों कहियो ।

हो तो पाय तिहारे गुन की कृपा करति हो रहियो ॥

गुन तो देख जानतिहि हूँहो तऊ मोहि कहि आये ।

प्रान उठत मेरे सात लङ्गाहि गातन रोटी भाये ॥

कृष्ण राजभवन में जा पहुँचे हैं, यह जानते हुए भी यतीन के प्रेमाह्वय में यह बात जल्दी नहीं बैठती कि कृष्ण के गुण का क्या खिताब दे सगी थी जाना मगार में और भी कोई रस मगता है। रसमय हृदय ही ऐसी दशाओं का अनुभव कर मगता है। वे सब उदाहरणों की सीधे पीटनेवालों के भाव में यह बात बरी ।

आगे चरकर गोविन्द की मिश्र-दशा का जो पाया जाना बरन है उगता तो कहता ही क्या है। न जाने किन्ती मानसिक दशाओं का मगता उनके भीतर है। कौन किता मगता है ? समोच और निरुप ही मगता है ?

के शृंगार की व्यापकता बहुत अधिक है। इसी से वह रसरत्न कहलाता है।  
 इस दृष्टि से यदि मूरदास को हम रममाणर कहें तो बेखटके कह सकते हैं।  
 इच्छा के चले जाने पर सायं-प्रभात तो उसी प्रकार होने हैं, पर "मदनगोपाल  
 बिना या तन की सर्व बात बदली"। राज में पहले सायंकाल में जो मनोहर  
 दृश्य देखने में आया करता था वह अब बाहर नहीं दिखाई पड़ता; पर मन  
 से उसकी 'स्मृति' नहीं जाती—

एहि घेरियां बन ते राज आयेते।

दूरहि ते यह येनु अपर धरि चारंवार बजायेते ॥

सयोग के दिनों में आनन्द की तरंगें उठाने वाले प्राकृतिक पदार्थों को  
 वियोग के दिनों में देखकर जो दुःख होता है उसकी व्यञ्जना के लिए कवियों  
 में उपात्त की चाल बहुत दिनों से चली आती है। चन्द्रोपात्तभमवचिनी  
 बड़ी सुन्दर कवितायें ससृष्ट-साहित्य में हैं। देखिए, सागर-मथन के समय  
 चन्द्रमा को निकालने वाली तक इस उपात्त में, किस प्रकार गोपिया अपनी  
 दृष्टि दोड़ाती है—

या बिनु होत कहा अरु शूनो ?

लेकिन प्रगट कियो प्राची दिति, विरहित को दुख बूनी ?

सब निरदय गुर, अमुर, शूल, रावि ! सायर सब समेत ॥

धन्य कहीं वर्षा ऋतु, तमचूर औ कमलन को हेत ।

जुग जुग जीवं जरा वापुरो मिले राहु अरु केत ॥

इसी पद्धति के अनुसार वे वियोगिनी गोपिया अपने उजड़े हुए नीरस  
 जीवन के मेल में न होने के कारण वृन्दावन के हरे भरे पेड़ों को बोगनी हैं—

मयूदन ! तुम फल रहन हरे ?

विरह-वियोग दयामुन्दर के छाड़े क्यों न जरे ?

तुम ही निलज, लाज महि तुमको, किर तिर पुहुप घरे ?

सत्ता स्याद औ बन के पल्लव फिर बिह मदन करे ।

बौन राज छाड़े रहे बन में, बाहे न उबड़ि घरे ?

इसी प्रकार रात उन्हें शापित सी लग रही है। शापित की पीठ वाली

भावों से सदा हुआ है। स्वप्न आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही का-  
 गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शबलता कहें या  
 भाव-संचामून, क्योंकि एक ही वाक्य "नन्द ! अज लीजें ठोंकि बरान  
में कुछ निवेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अगणं इन तीनों की मिश्र व्यञ्जना-  
जिते शबलता ही कहने से सतोष नहीं होता—पाई जाती है। शबलता के  
प्रदत्त उदाहरणों में प्रत्येक भाव अलग दायों या वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट  
किया जा सकता है; पर उक्त वाक्य में यह बात नहीं है।

ग्याल सखाओ में भी यही दशा हो रही है। कभी-बे-व्याकुल मो-  
 अधीर होते हैं, कभी कृष्ण की निष्ठुरता पर क्षुब्ध होकर कहते हैं—

भये हरि मयपुरी-राजा, बड़े बंरा कहाय ।

सूत मागघ ददति बिदरहि दरनि यमुघी तात ।

राजभूषन अंग भ्राजत, अहिर कहत लजात ॥

दियुक्त प्रिय के सुख के अनिश्चय की 'शका' तक न पहुँचती हुई भावना  
 'दीनता' और क्षोभ-जन्य 'उदासीनता' किस प्रकार इन वचनों से व्यक्त  
 रही है—

संदेशो देवकी सों कहियो ।

हों तो घाय तिहारे भुन की

तुम तो देख जानतिहि त्वरे

प्रात उठत मेरे लाल ।

कृष्ण राजभवन में जा पहुँचे हैं

हृदय में यह बात जल्दी नहीं

जितना वे रखती थी उतना जसा

हृदय ही ऐसी दशाओं का

पीटनेवालों के भाग्य में

आगे चलकर गोपियो

है उसका तो कहना ही क्या

उसके भीतर है। कौन

धनुष का भेद मिटता जाता है । ऐसे यौन पावन के प्रसंग में दूर ने दूर छोड़े दिए हैं । "निर्गुन दिन चरगत नैन हमारे" बहुत प्रसिद्ध पद है । दिग्गोपाल में निम्न-निम्न प्रकार की उल्टी हुई भाव-राजी ने रचित होकर एक ही धनुष कभी किसी रूप में दिखाई पड़ती है, कभी किसी रूप में । उल्टे हुए बादल कभी तो ऐसे भीरुन रूप में दिखाई पड़ते हैं—

देखियन छट्टं दिगि तैं घनघोरे ।

मानौ मत्त मदन के हृषियन घन बरि घंघन तोरे ॥

बारे सन अनि सुवन गंड मद, बरसन घोरे घोरे ॥

रगत न पवन-महावन हूँ पै, भुरत न अंकुस मोरे ॥

कभी अपने प्रकृत लोक-मुगडाकर रूप में ही सामने आते हैं और रूप की अपेक्षा वही दयालु और परोपकारी लगने हैं । —

अब ये बदराज बरसन आरु ।

अपनी अवधि जानि, नंदनंदन ! गरजि गगन घन छाए ॥

कहिमत हूं सुरलोक बसत, राखि ! सेवक सदा पराए ।

घातक कुत की पीर जानि कै, तेउ सहां ने धाए ॥

तुण किए हरित, हरिषि बेलि मिलि, दादुर मृतक जियाए ॥

'बदराज' के 'ऊ' और 'बह' में वैसी व्यंजना है । 'बादल तक'—

जो जड़ समझे जाते हैं—आधितो के दुख से द्रवीभूत होकर आते हैं ।

प्रिय के साथ कुछ रूप-साम्य के कारण वे ही भेष कभी प्रिय लगने लगने हैं—

21/11/19

आज घनश्याम की अनुहारि ।

उन आए सांवरे ते सजनी ! देखि, रूप की आरि ॥

इंद्र धनुष मनो नवल बसन छवि, दामिनि दसन विचारि ।

जनु बग-मांति माल मोलिन की, चितवत हितहि निहारी ॥

इसी प्रकार परीहा कभी तो अपनी बोली के द्वारा प्रिय का स्मरण कराकर दुख बढ़ाता हुआ प्रतीत होता है और यह फटकार सुनाता है—

कोई देश नहीं होता है। ऐसा उचित है कि वह काका का बेटा है।  
 जिसने अपने घर में आया है। काका को अपने ही घर में बने ही  
 बाबा के हृदय में जो बेटे की भावना है वह ऐसी ही होती है—

जिना जिनु साँझी काँची साँझी ।

बचपुँ बचपुँ जोई मूँछिया बचि उचोई हँ साँझी ॥

इस गद्य का मर्म इस भाँति है—

सूत्रधार की वह विचार-धारा जिस प्रकार घर की चारदीवारी के  
 भीतर गहरी गहरी कर मनुष्य के प्रेम्भे बघावों, करीब के कुबों की  
 बचपुँ-बचपुँ तक फैला है उसी प्रकार उनका विश्व-दर्शन भी 'बचि पं  
 रजिना' और 'साँझी भद्र भेदना' तक ही गहर कर प्रतीति के सुने  
 शेष के बीच दूर-दूर तक पहुँचा है। मनुष्य के आन्तरिक बच-जीवन के  
 परम्परागत मधुर संस्कार को उद्दिष्ट करनेवाले इन शब्दों में जिना  
 मापुँ है—“एक बच कृति मकर बच हूँ, बचपुँ न स्याम मूँ”।  
 मापुँ का भावा-भावना उसी प्रकार लगा है। प्रतीति पर उनका रंग कैसा  
 ही चमका-उमका दिखाई पड़ता है। भिन्न-भिन्न मापुँ की बचपुँ देव  
 जैसे गोपियों के हृदय में मिलने की उत्पन्न उत्पन्न होती है जैसे ही बच  
 के हृदय में बचो नहीं उत्पन्न होती ? जान पड़ता है कि मैं सब उपर  
 जाती ही नहीं, त्रिपर कृष्ण बचो है। सब कृष्ण में ही आ आकर  
 अपना अहं जमाती है—

भागी, भाई ! सच कहें ही भावत ।

अब वहि बेत नंदनंदन को कोउ न समी जनावत ॥

परत न बन नय पत्र फूल-फल, पिक बसंत नहि गावत ।

मुदित न सर सरोज अलि गुंजत, पवन पराग उड़ावत ॥

पापत विविध धरन वर यावर उडि नहि अंबर छावत ।

घातक मोर घकोर सोर करे, दामिनि रूप बुरावत ॥

अपनी अनादशा को प्रातु-मुलभ व्यापारों के बीच विव-प्रतिविव रूप  
 उना भाव-मग्न अन्तःकरण की एक विशेषता है। इसके वर्णन में

प्रभु का चेहरे मिट-ना जाता है । ऐसे वनन पानन के प्रसंग में शूर ने बहुत ठण्ठे किए हैं । "निर्लिपि दिन बरगन नैन हमारे" बहुत प्रसिद्ध पद है । विरजोन्माद में मित्र-निमित्र प्रकार की उल्टी हुई भाव-नाओं में रझिन होकर एक ही वस्तु कभी किसी रूप में दिखाई पड़ती है, कभी किसी रूप में । उल्टे हुए बादाव कभी तो ऐसे भीरण रूप में दिखाई पड़ते हैं—

देखियन छाहुं दिमि तें घनघोरे ।

मानो भक्त मदन के हृषियन बल करि बंधन तोरे ॥

बारे तन अनि घुषन गंड मड, बरसत घोरे घोरे ॥

रजन न परन-महाजन हूँ पै, भुरत न अंकुम मोरे ॥

कभी करने प्रवृत्त लोक-मुग्धदायर रूप में ही सामने आते हैं और वृष्ण की अपेक्षा बही दयालु और परोपकारी लगते हैं । —

यद्यपि बदराज बरसन आर ।

अपनी अवधि जानि, मंदनंदन ! गरजि गगन घन छाए ॥

कहियत है गुरलोक बसत, राखि ! सेयक सदा पराए ।

घातक बुल की पीर जानि कै, तेउ तहाँ ने धाए ॥

तूण किए हरित, हरषि बेलि मिलि, दादुर भूतक जिबाए ॥

'बदराज' के 'ऊ' और 'बह' में कौसी व्यंजना है । 'बादल तक'— जो जड़ समझे जाते हैं—आधितो के दुःख से द्रवीभूत होकर आते हैं ।

प्रिय के साथ कुछ रूप-साम्य के कारण वे ही भेष कभी प्रिय लगने लगते ।

आजु घनश्याम की अनुहारि ।

उन आए सांवरे ते सजनी ! देखि, रूप की आरि ॥

इन्द्र धनुष बनो नवल बसन छबि, दामिनि दसन बिचारि ।

जनु बग-पाति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारी ॥

इसी प्रकार परीहा कभी तो अपनी बोली के द्वारा प्रिय का स्मरण कराकर दुःख बढ़ाता हुआ प्रतीत होता है और यह फटकार मुनाता है—

हैं तो मोहन के विरह जरी, रे ! तू कत जात ?  
 रे पापी तू पल पनीहा । 'पिउ पिउ पिउ' अजिराति पुरात ॥  
 सत्र जग गुप्तो, दुस्रो तू जल बिनु, तऊ न तन की बिपहि बिचारत ।  
 सूर स्याम बिनु अज पर मोलत, हठि अगिलोज जनम बिगारत ॥

और कभी समदुःख-भोगी के रूप में अत्यन्त मुद्दू जान पड़ता है जो  
 समान प्रेम व्रत-गालन के द्वारा उनका उत्साह बढ़ाता प्रतीत होता है—

यहुत दिन जीयो, पपिहा प्यारो ।

बासर रंनि नांव लं मोलत, भयो विरह-जुर कारो ॥  
 आपु दुलित पर दुलित जानि जिय चातक<sup>१</sup> नाम तिहारो ।  
 देखो सरल बिचारि, सखी ! जिय बिछुरन को दुख न्यारो ॥  
 जाहि लगं सोई पै जानं प्रेम-बान अनियारो ।

लेखनासूरदास प्रभु स्वाति बूंद लगि, तज्यो सिंधु करि तारो ॥

काव्य-जगत् की रचना करनेवाली कल्पना इसी को कहते हैं। किसी  
 भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप  
 गूढ़ कर या काट-छाट कर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि-  
 कल्पना कह सकते हैं। यों ही सिरपच्ची करके—बिना किसी भाव में मान  
 हुए—कुछ-कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना  
 या तो बाबलापन है या दिमागी कसरत ; सच्चे कवि की कल्पना नहीं  
 वास्तव के अतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाए गए  
 हों उनके सम्बन्ध में यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमंग में  
 उस भाव को संभालनेवाले या बढ़ानेवाले होकर आ खड़े हुए हैं या यों  
 ही तमाशा दिखाने के लिए—कुनूहल उत्पन्न करने के लिये—जबरदस्ती  
 पकड़ कर लाए गए हैं। यदि ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्तक या प्रेरक  
 भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग  
 गया और वे रूप हृदय-प्रेरित हुए। अंग्रेज कवि कॉलरिज ने, जिसने

१ चातक = (चतु = मागना) याचना करनेवाला ।

विवेकशून्य और अन्ध विवेक विना है, अन्धों का कविता<sup>१</sup> में ऐसे अवसरों को अलङ्कारपूर्ण ठानने में निरत हुआ बना है, जिनके प्रभाव में जीवन में गेवबका रहती है। उद नर यह अन्धारण्य (कल्पना का) जीवन में साथ लगा चलता है जब तक दुःख की परिस्थिति में भी अलङ्कारपूर्ण नहीं टूटता। पर धीरे-धीरे यह दिव्य आवरण हट जाता है और मन गिरने लगता है। भावोन्मत्त और कल्पना में डूबना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक बाध्य-सीमांकन ने दोनों को एक ही बहना ठीक समझ कर बह दिया है—“कल्पना आनन्द है” (Imagination is joy)<sup>२</sup>।

सच्चे कवियों की कल्पना की शान्त जाने दीजिए, साधारण व्यवहार में भी लोग जोर में आवर कल्पना का जो व्यवहार बराबर किया करते हैं वह भी जिंगी पहाड़ की ‘जिंगु’ और ‘पांडव’ बहने वाले कवियों के व्यवहार से बही उभिन होता है। जिंगी निष्ठुर कर्म करने वाले को यदि कोई ‘हत्यारा’ कह देता है तो वह शब्द कल्पना का उपयोग करता है; क्योंकि विरक्ति या घृणा के अनिरेक से प्रेरित होकर ही उसकी अन्तर्वृत्ति हत्यारे का रूप सामने करती है, जिसमें भाव की मात्रा के अनुरूप आलम्बन खड़ा हो जाता है। ‘हत्यारा’ शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ही विरक्ति की अधिकता का ध्वंजक है। उसके स्थान पर यदि कोई उसे ‘बकरा’ बहे, तो या तो किसी भाव की व्यञ्जना न होगी या किर्म ऐसे भाव की होगी जो प्रस्तुत विषय के मेल में नहीं। कहलानेवाले कोई भाव अवश्य चाहिए और उस भाव को प्रस्तुत वस्तु के अनुरूप होना चाहिए। भारी मूर्खों को लोग जो ‘गदहा’ कहते हैं वह इसीलिए कि ‘मूर्ख’ बहने से उनका जो नहीं भरता—उनके हृदय में उपहास अथवा तिरस्कार का जो भाव रहता है उसकी व्यञ्जना नहीं होती।

बहने की आवश्यकता नहीं कि अलंकार-विधान में उपर्युक्त उपमा

१. Dejection Ode. 4th April, 1802 २. *संक्षेपान्तर*

२. G. W. Mackail's Lectures on Poetry





काल-वृत्त के दो दो — ॥ १ ॥

इस प्रकार प्रत्येक दिनें प्राग्वह रूप में कई जगह पूरे प्रगम की  
गयी है । जैसे सूर्योदय मध्याह्न में हुआ ही दूर पर पड़ी विग्रह में  
लगाया गये हैं, पर वृत्त-राज-रूप के आनन्द में पूरे नहीं ममा रहे हैं ।  
एक बात के इस विषय प्राग्वह कहते हैं—

प्राग्वह-रूप भीन सूर्यय है, दृष्टि होत जन पीन ।

जैसा ऊपर बताया गया है, जिसे निर्माण करनेवाली—गृष्टि सदी  
करनेवाली—कल्पना करने हैं लगवी पूर्णता किमी एक प्रगुत वस्तु के  
जिसे कोई दूसरी अग्रगुत वस्तु—जोकि प्रायः वविश्वरूपरा में प्रसिद्ध  
होता कहती है—रग देने में उनकी नहीं दियाई पडनी जिनगी किमी  
एक पूर्ण प्रगम के मोल का कोई दूसरा प्रगम—जिममें अनेक प्राकृतिक  
वस्तुओं और ध्यापारों की नवीन योजना रहती है—रगने में देसी  
पानी है । मूरदागजी ने कल्पना की इस पूर्णता का परिचय जगह-जगह  
दिया है, इसका अनुमान ऊपर उद्धृत पदों से हो सकता है । कबीर, जायसी  
आदि कुछ रहस्यवादी कवियों ने इस जीवन का मार्मिक स्वरूप तथा  
परोक्ष जगत् की कुछ घुपली सी शालक दिखाने के लिए इसी अन्योक्ति-  
पद्धति का अवलम्बन किया है, जैसे—

हंसा ध्यारे ! सरवर तजि कहं जाय ?

जेहि सरवर बिच मोती घुनते, बहुविधि केलि कराय ॥

सूख, ताल पुरइनि जल छोडे, कमल गए कुंभिलाय ।

कह कबीर जो अय की बिछुरं, बहुरि मिलं कब आय ॥

रहस्यवादी कवियों के समान मूर की कल्पना भी कभी-कभी इस  
श्लोक का अतिश्रमण करके आदर्श लोक की ओर संकेत करने लगती  
है, जैसे—

धरई री ! धलि धरन-सरोवर जहां न प्रेम-वियोग ।

निस्ति-दिन राम राय की धर्या, भय दज नहि दुख सोग ॥

जहाँ सनक से मीन, हंस शिय, मुनि-जन-नल-रवि-प्रभा-प्रकाश ।

प्रफुलित कमल, निमिष नहि ससि डर, गुंजत निगम सुदान ॥

जोहि सर सुभग भक्ति मुषता-फल, मुष्टत अमृत रस पीत्रं ।

सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम ! इहाँ कहा रहि कोन ? ॥

पर एक व्यक्तवादी समुणोपासक कवि की उक्ति होने के कारण तत् चित्र में वह रहस्यमयी अव्यक्तता या धुंधलापन नहीं है। कवि अपनी भावना को स्पष्ट और अधिक व्यक्त करने के लिये जगह-जगह आकुलित्वादि पदों है इसी से अन्योक्ति का मार्ग छोड़ कर जगह-जगह उसने रूपक का प्रयोग लिया है। इसी अन्योक्ति का दीनदयाल जी गिरि ने अच्छा निर्वाह किया है—

चल चकई ? या सर विषय जहं नहि रंनि बिछोह ।

रहत एकरस दिवस ही मुहद हंस-संदोह ॥

मुहद हंस-संदोह कोह अरु बोह न जाके ।

भोगत सुख-अंबोह, मोह-दुख होय न ताके ॥

बरनं दीनदयाल भाग्य बिनु जाय न सकई ।

प्रिय-मिलाप नित रहै ताहि सर तू चल चकई ॥

जी अव्योक्ति-पद्धति को कवीन्द्र-रवीन्द्र ने आजकल अपने विलुप्त प्रकृति-निरीक्षण के बल से और अधिक पल्लवित करके जो पूर्ण और भव्य स्वरूप प्रदान किया है वह हमारे नवीन हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में 'गाव में नया नया आया ऊट' हो रहा है। बहुत से नवयुवकों को अपना एक नया ऊट छोड़ने का हौसला हो गया है। जैसे भावों वा तथ्यों की व्यञ्जना के लिये श्रीयुत रवीन्द्र प्रकृति के क्रीड़ास्थल से लेकर नाना मूर्त स्वरूप षडा करते हैं वैसे भावों को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखने वाले बहुतेरे ऊटपटांग चित्र षडा करने और कुछ अगंवद्ध प्रस्ताव करने को ही 'छायावाद' की कविता समझ अपनी भी कुछ करामात दिखाने के पेर में पड गए हैं। चित्रों के द्वारा बात कहना बहुत ठीक है पर कहने के लिये कोई बात भी तो हो। कुछ तो काव्य-रीति से सर्वथा अनभिज्ञ, छंद, अलंकार

गदि के ज्ञान में विन्कुल कोरे देखे जाते हैं। बड़ी भारी बुराई यह है कि पढ़ने की एक 'नये सम्प्रदाय' में समस्त अहंकारवश वे कुछ मीराने का कभी नाम भी नहीं लेना चाहते और अपनी अनभिज्ञता को एक चलते नाम की नोट में छिपाना चाहते हैं। मैंने कई एक से उन्हीं की रचना लेकर कुछ पढ़ लिए, पर उनका मानसिक विकास बहुत साधारण कोटि का—कोई गम्भीर तत्व ग्रहण करने के अनुपयुक्त—पाया। ऐमो के द्वाराकाव्य क्षेत्र में भी, राजनीतिक क्षेत्र के समान, पाखंड के प्रचार की आशंका है अतः आवश्यकता इस बात की है कि रहस्यवाद का प्रकृत स्वरूप और उसके इतिहास आदि साहित्य-सेवियों के सामने रखा जाय तथा पुराने और नये रहस्यवादी कवियों की रचनाओं की सूक्ष्म परीक्षा द्वारा रहस्यवाद की कविता की साहित्यिक स्वरूप की भीमासा की जाय।

यहां तक तो सूर की महदयता की बात हुई। अब उनकी साहित्यिक निपुणता के सम्बन्ध में भी दो-चार बातें कहना आवश्यक है। किमं कवि की रचना के विचार के मुभीने के लिये हम दो पक्ष कर सकते हैं—हृदय-पक्ष और कला-पक्ष। हृदय-पक्ष का कुछ दिग्दर्शन हो चुका। अब सूर की कला-निपुणता के, काव्य के बाह्यपक्ष के संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि वह भी उनमें पूर्ण रूप में वर्तमान है। यद्यपि काव्य में हृदय-पक्ष ही प्रधान है, पर बहिरंग भी कम आवश्यक नहीं है। रीति, अलंकार, छंद ये सब बहिरंग विद्या के अन्तर्गण हैं, जिनके द्वारा काव्यात्मा की अभिव्यक्ति में सहायता पट्टेवनी है। सूर, तुलसी, बिहारी आदि कवियों में दोनों पक्ष प्रायः सम हैं। जायगी में हृदय-पक्ष की प्रधानता है, कला-पक्ष में (अलंकारों का बहुत कुछ व्यवहार होने हुए भी) कृति और न्यूनता है। बेशक में कला-पक्ष ही प्रधान है, हृदय-पक्ष न्यून है।

यह तो आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि सूर की रचना अजडब और विद्यापति के गीत-काव्यों की सीटी पर है, जिसमें सूर और गज के गोंदयं या माधुर्य का भी रस-मेलन में बहुत कुछ योग रहता है। सूरगागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी, इसमें वह गरीब-

प्रेमियों के लिये भी बड़ा भारी सजाना है। नाद-सौन्दर्य के साथ अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी हैं। सस्कृत के गीत-गोविन्द में कोकान्त-पदावली और अनुप्रास की ओर बहुत कुछ ध्यान है। सिक की रचना में कोमल पदावली का आग्रह तो है, पर अनुप्रास का नहीं। मूर में चलती भाषा की कोमलता है, वृत्ति-विधान और अनुप्रास की ओर श्रुकाव काम है। इससे भाषा की स्वाभाविकता में बाधा देने पाई है। भावुक मूर ने अपना 'शब्द-शोधन' दूसरी ओर रखा है। उन्होंने चलते हुए वाक्यों, मुहावरों और कही-कही कहावतों का बहुत अच्छा प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य यह कि मूर की भाषा बहुत चलती हुई और स्वाभाविक है। काव्य-भाषा होने से यद्यपि उन कही-कही सस्कृत के पद, कवि के समय से पूर्व के परम्परागत प्रयोग या ब्रज से दूर-दूर के प्रदेशों के शब्द भी आ मिले हैं, पर उनकी भाषा तनी नहीं कि भाषा के स्वरूप में कुछ अन्तर पड़े या कृत्रिमता अपने लेश और यमक कूट पदों में ही अधिकतर पाये जाते हैं। अर्थालंकारों की अलवत्ता पूर्ण प्रचुरता है, विशेषतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों की। यद्यपि उपमान अधिकतर साहित्य-प्रसिद्ध और परम्परागत ही हैं, पर स्वकल्पित नए-नए उपमानों की भी कमी नहीं है। कही-कही तो जो प्रसिद्ध उपमान भी लिये गये हैं; वे प्रेम के बीच बड़ी ही अनूठी उद्भावना के साथ बँटाए गए हैं। स्फटिक के आंगन में बालक कृष्ण घुटनों के बल चल रहे हैं और उनके हाथ-पैर का प्रतिबिम्ब गड़ता चलता है। पर इस पर कवि की उत्प्रेक्षा देखिए—

फटिक-भूमि पर कर-यग-छाया यह शोभा अति राजति ।

करि करि प्रति पद प्रति मनो बसुधा कमल घंटकी साजति ॥

रूप या अंगों की शोभा के वर्णन में उपमा उत्प्रेक्षा की भरमार बराबर मिलेगी। इनमें बहुत-सी सौ पुरस्ती और बंधी हुई हैं और कुछ नवीन भी हैं। उपमा उत्प्रेक्षा की सबसे अधिकता 'हरिजू की चाल-छवि' के वर्णन में पाई जाती है; यों तो जहाँ-जहाँ रूप-वर्णन है, सर्वत्र ये अलंकार भरे पड़े हैं।



" गुरुदागत्री में विगनी गहदपना और भावना है, प्रायः उना १५  
 पुरणा और वाग्दपना ( wit ) भी है । विगी बाप को बहने के न  
 जाने बितनं टेढ़े-गोधे हग उन्हें मान्दम ये । गोपियो के बचन में विगी  
 विदपना और वचना भरी है ? बचन-रचना की उरा वचना के सम्बन्ध  
 में आगे विचार किया जायगा । यहाँ पर हम बंदधम के उग उपयोग का  
 उल्लेख करना चाहते हैं जो आलंकारिक कुतूहल उत्पन्न करने के लिए  
 किया गया है । ग्राहिय-प्रसिद्ध उपमानों को लेकर गूर ने बड़ी-बड़ी चीझरें  
 की हैं । यही उनको लेकर रूपवातिसयोक्ति द्वारा "सद्भुज एक अनुपम  
 बाग" लगाया है, यही, जब जेगा जी चाहता है, उन्हें मगत मित्र करके  
 दिखा दिया है, यही व्यसंगत । गोपियो त्रियोग में बुढ़कर एक स्थान पर  
 कृष्ण के अंगों को लेकर उपमा को इस प्रकार न्याय-संगत  
 ठहराती हैं—

अब यह समुक्ति भई ।

अंग प्रति उपमा न्याय भई ॥

कुल कुल संत संत संत संत संत संत ॥  
 सन्त संत संत संत संत संत संत संत ॥  
 सन्त संत संत संत संत संत संत संत ॥  
 सन्त संत संत संत संत संत संत संत ॥  
 सन्त संत संत संत संत संत संत संत ॥  
 सन्त संत संत संत संत संत संत संत ॥

इसी प्रकार हमारे सामने पर ये सन्त संतों के उद्गारों को अनुभव  
 कराती है—

उत्तम एव न मेव गते ।

वर्द्धन बहू बहू बहू बहू, मुनि बहू बहू बहू न बहू ॥  
 बहू बहू, मुनि-बहू बहू जीवन; भंवर न तहं उडि जान ।  
 हरिभूत-वसन्त-वसन्त बहूरे तो ठाणे बहू टहान ?  
 सन्त भनरंजन जान जो पं, बहू महि सन्तान ॥ ६१  
 पंथ पगारि न उडन, भंवर हवं समर समीप विजात ॥ ६२  
 आये बहू बहू बहू बहू, जो मुनि बहू न पलाय ।  
 बहू भागि बहू पन बहू में जहं बहू संग न घाय ॥  
 बहूलोचन बहूलोचन बहू ? प्रति छिन बहू दुत बाइत ।  
 भूरदास भौनता बहू इक, जल भरि सग न छांड़त ॥

इसी उदाहरणों में उपमानों की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता का  
 जो आरोप किया गया है वह हृदय के शोभ से उत्पन्न है, इसी से उसमें  
 रसता है, वाच्य की योग्यता है । यदि कोई बहू-दुग्धनी इन्हीं उपमानों  
 को कहने लगे—“बाह ! नेत्र ग्रमर कैसे हो सकते हैं ? ग्रमर हीति तो  
 उड न जाते । मुनि कैसे हो सकते हैं ? मुनि होने तो जमीन पर चौकड़ी न  
 करते ।” तो उनके बचन में कुछ भी वाच्यत्व न होगा ।

उपमानों की आनन्द-दशा का वर्णन करके इसी प्रकार मूर में ‘अप्र-  
 स्नुत प्रसन्न’ द्वारा राधा के अंगों और चेष्टाओं का विरह से छुतिहीन  
 और मन्द होना व्यक्त किया है—



## आदर्श आलोचना

तब तैं इन सबहिन सवपायो । सुँछे  
जब ते हरि संदेस तिहारो सुनत तांयरो आने ॥  
फूले झ्याल डुरे तैं प्रगटे, पवन पेड भरि सानो ।  
ऊँचे बँठि बिहंग-सभा बिच कोकिल मंगल गायो ॥  
निकसि कंदरा तैं केहरिहू मायें पूँछ हिलायो ।  
बनगूह तैं गजरात निकसि कै अंग अंग गवँ जनायो ॥

चेष्टाओं और अंगों का मन्द और शीहीन होना कारण है और इ-  
मानों का आनदित होना काम्य है । यहाँ अप्रस्तुत काम्य के बतलाने  
प्रस्तुत कारण की ध्याना की गई है । गोस्वामी तुलसीदास जो ने बतलाने  
के न रहने पर उपमानों का प्रसन्न होना राम के मुख से कहा गया है—  
कुंदकली, बाँझिम, दामिनी । कमल, सारदससि, अहि-भामिनी ॥  
झोपल कनक कदलि हरपाही । नेकु न संक साधुष मन मर्यो ॥  
मुनु जानकी । तोहि बिनु भाजू । हरयें सरल पाइ अनु राजू ॥  
पर यहाँ उपमानों के आनन्द में केवल गीता के न रहने की व्याख्या  
होती है । गूर की 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में उक्ति का समन्वय भी कुछ दिखे  
है और रंगामयता भी ।

गूर की गूसा का उदाहरण समन्वय-प्रधान पद भी गूर ने बहुत ही  
कहे हैं, जैसे—

(क) गूर करहु बीना कर भरिबो ।

मोटे मूग नाहि रस हाँवो, नाहि होय काव को हँसिबो ॥

(ख) मन साधन को बेनु गियो कर, मूग धाके उड़गई न करी ।

अनि मातुर हर्ष गिट् लियो कर अहि भामिनी को करन हरी ॥

साधा मन कह्यो के लिये, निगी प्रकार रस दिखो के लिये  
बीना लेकर बीनी । उग बँगाया या बेनु के बर मे प्रोदित होय करवा  
के रस का शिव भद गरा और करवा के रस का न राग और भी  
बद गई । इस पर उदाहरण के गूर का बिच बतलाने वाली बिना मूग का  
साधा मन । बाँझी की 'पदावली' में भी बहुत उक्ति को को ली गई है—

गहै बीन मकु रंनि बिहाई । ससि बाहन सहं रहं ओनाई ॥

पुनि घनि सिंह उरैहं लागे । ऐसिहि बिया रंनि सब जागे ॥

जायसी की पद्यावत विनम्र भवन् १५९७ में बनी थीर मूरगागर सबन् १६०७ के लगभग बन चुका था । अतः जायसी की रचना कुछ पूर्व ही मानी जायगी । पूर्व की न सही, तो भी किसी एक ने दूसरे से यह उक्ति ली हो, इसकी सम्भावना नहीं । उक्ति मूर और जायसी दोनों से पुरानी है । दोनों ने स्वतंत्र रूप में इसे कवि-परम्परा द्वारा प्राप्त किया ।

कही-नही मूर ने वत्पना को अधिक बढ़ाकर, या यो कहिए कि वृद्धा का सहारा लेकर—जैसा पीछे बिहारी ने बहुत किया—वर्णन कुछ भस्वाभाविक कर दिया है । चन्द्र की दाहकता से चिढ़कर एक गोपी राधा ने बहती हैं—

कर धनु लं किन चंदहि मारि ?

तु हृदयाय नाथ मंदिर चढ़ि ससि सम्मुख हर्षन बिस्तारि ।

याही भांति बुलाय, मुकुर महि अति बल संड संड करि डारि ॥

गोपियो का विरहोन्माद कितना ही बढ़ा हो, पर उतनी बुद्धि बिल्कुल लुप्त हो सी दिखाना स्वाभाविक नहीं जैचता । कविता में दूर की मूर्त का चमत्कार ही सब कुछ नहीं है ।

पावस के प्रलयाजंन आदि वियोगिनी को सतापदायक होते हैं, यह जो एक बड़ी चली आती हुई बात है । मूर ने एक प्रमग कल्पित करके इस बात को ऐसी व्यक्ति में रख दिया है कि इसमें एक अनूठापन आ गया है । वे कहते हैं कि पावस आने पर गलिया राधा को मालूम ही नहीं होने देती कि पावस आया है । वे और बातें बताकर उन्हें बहवाती रहती हैं—

यात मूशन यों बहरायति ।

मुनहु स्याम । यं सली सयानो पावस श्रुतु राधाहि न मुनाचनि ।

पन गरजत सी बहत कुशलमनि मूजन गुहा सिंह समुसाचनि ॥

महि दामिनि हुम-बबा सोल चढ़ि, किरि बयारि उलटी शर साचनि ।

## बादलों आलोचना

जात २४५१

सूर को वचना-रचना की चतुराई और शब्दों की क्रीड़ा का मोह हुआ था। बीच-बीच में आए हुए कूट पद इस बात के प्रमाण हैं कि या तो अनेकार्थवाची शब्दों को लेकर या किसी एक वस्तु को वर्णित करने के लिए अनेक शब्दों की लम्बी लड़ी जोड़कर खेलवाड़ किया गया है। सूर की प्रकृति कुछ क्रीड़ाशील थी। उन्हें कुछ संतुष्टिमानों का भी शौक था। लीला-मुरुपोत्तम के उपासक कवि में यह विशेषता होती ही चाहिए। तुलसी के गम्भीर मानस में इस प्रवृत्ति का आभास नहीं मिलता। अपनी इस शब्द-कोशाल की प्रवृत्ति के कारण सूर ने व्यवहार के कुछ सामान्य शब्दों को लेकर भी एक आध जगह उक्तियाँ बांधी हैं, जैसे—

द्विगमपद

साँचो सो लिख्यार कहायँ । सुखियँ  
काया-प्राप्त मसाहत करि कैं, जमा बाँधि ठहरायँ ।

अभिप्रेत

मनस्य करं कंद अपनो में, जान जहतिमा सायँ ।  
काव्य में इस प्रकार की उक्तियाँ ठीक नहीं होतीं। भाषायों में 'अप्रतीतत्व' दोष के अन्तर्गत इस बात का संकेत किया है। सूर भी इस ही आध जगह ऐसी उक्तियाँ साए हैं, पर वे 'प्रेम-फौजदारी' ऐसी पुरुष के लिये नमूने का काम दे गई हैं।

श्री ली १११०२१

# गोस्वामी तुलसीदास

## कला और व्यवहार-धर्म

( ले० डॉ० श्यामगुन्दरदास व डॉ० पीताम्बरदास )

१

कला—

“गोमाईंजी भक्ति के दोष में जितने महान् थे उतने ही कविता के दोष में भी । वस्तुतः उनकी कविता उनकी भक्ति का ही प्रतिरूप थी ।”  
 उनकी भक्ति ही बाणी का आवरण पहनकर कविता के रूप में व्यक्त हुई थी । उनकी कविता अपने आप अपना उद्देश्य नहीं थी । ‘कवि न होऊ नहि चतुर प्रवीणा’ में जहाँ उनके विनय का पता चलता है वहाँ यह भी संकेत है कि वे अपने को कवि न समझकर कुछ और समझते थे । जिस बड़ी उम्र में उन्होंने कविता करना आरम्भ किया था उसमें पता चलता है कि जिसे मिल्टन उपरतमनाओं की निबलता कहते हैं वह यशोलिप्ता उन्हें छू एक नहीं गई थी । उन्होंने जो कुछ कहा है वह केवल ‘कवि-चानुर्य’ के फेर में पड़कर नहीं बल्कि इसलिये कि बिना कहे उनका जी नहीं मानता था, उन्हें पैन नहीं मिलता था । ‘स्वात मुखाय मतिमज्जलमातनोति’ में के ‘स्वात-मुखाय’ का यही तात्पर्य है । रामचन्द्र के अनन्त रूप, अनन्त भक्ति, अनन्त वीर्य का जो एकांत आनन्दानुभूति उनको हो रही थी उसे वे आत्म-परिवृत्त होकर ही उपभोग नहीं कर सकते थे । मगार को भी उसमें भागी कर लेना अनिवार्य था । मही आकुलता कविता को अबाध प्रवाह देती है । प्रसन्न-प्रसन्न कविता घातविक कविता नहीं बही जा सकती । उसमें कविता का बहिरंग हो सकता है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि जहाँ कविता का बहिरंग दिखाई दे वहीं उसका आन्तरिक भी मिल जाय । क्योंकि कविता हृदय का स्फापर है, दिमाग को समझकर उसका आवरण नहीं किया जा सकता । जो आपसे आप उदय न हो वह कारविक कविता नहीं । सच्ची, सदा

आदर्श आलोचना

करती हुई सजीव कविता के लिये यह आवश्यक है कि कवि को स्व-वृत्तियाँ वष्यं विषय के साथ एकाकार हो जायें। जब कवि को स्व-भावनाएँ एकमुख होकर जागरित हो उठती हैं, तब कवि का हृत्पथ ही भावुक उद्गारों के रूप में प्रकट होने लगता है। इन अनिर्वच्य लयों में कवि की ओर से प्रयत्न की आवश्यकता होती है और न ही हरी रूखावट उसे रोक ही सकती है। गीताईजी में इन तत्त्वों का काष्ठा हो गई थी, इनमें कोई मद्देह नहीं। उनकी निशानें कवि-तन्मय होकर जागरित हुई थी, इसी से—

‘प्रेम उमगि कविता’

राज्य के अर्थ

'प्रेम उमंगि कबिताखली घली सरित सुवि तार ।  
 राम-वरा-पूरि मिलन हिन तुलसी हरण अगार ॥'  
 राम के साथ उनकी मनोकृतियों का इतना सामाज्य हो रहा था कि जो कोई वस्तु उनके ओर राम के बीच व्यवधान-रोकट अथवा उनके अतिरिक्त किसी के नियम में उन्होंने अपनी वाणी का आरोप नहीं किया। उनकी वाणी एकमात्र राम के मनोमान मे मनोनिर्मल हुई है।  
 गीत-वाल के कवियों की तरह ये जगत्-जगत् तमो के बरगुणों के दुबारी करने नहीं करते थे। नरनाथ करना के अनुभव बरतते

जोन्हे प्राण जन गुन-गाना ।  
 गिर धुति गिरा लागि बडिगाना ॥  
 दोहर के मुख में उठो जा दो बार दोरे बडे तेरे धरे हुए ।

माय हनुमन्नाटककार बबीश्वर की भी, यशोकि हनुमन्नाटक से भी महा-  
यना ली है। इनके अनिरिक्त योगबमिष्ठ, अध्यात्मरामायण, महारामायण,  
भृगुडि रामायण, याज्ञवल्क्यरामायण, भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, भार-  
द्वाजरामायण, प्रसन्नराघव, अनर्घ्यराघव, रघुवन आदि भेकड़ों ग्रंथों की  
छाया रामचरितमानम में मिलती है। श्री रणवीरगिहजी ने रामचरित-  
मानम के उद्गमो के संबंध में बड़ा सराहनीय और परिश्रमजन्य अनु-  
संधान किया है, जिससे पता चलता है कि मोरारजी की प्रत्येक पक्ति  
मसूत में ली गई है।

यहां पर कुछ उदाहरण दे देना उचित होगा—

भूक होइ घाघाल, पंगु चडइ गिरिबर गहन ।  
जामु कृपा सो दयाल, द्रवउ सकल कलिमल दहन ॥  
(भूकं करोति घाघालं पंगुं लंपयते गिरिम् ।  
पल्लवा तमहं वदे परमानन्द माधवं) ॥  
धंदुं मुनि-पद-कंज, रामायन जेहि निरमण्ड ।  
सखर शकोमल मंजु, शेष-रहित दूधन सहित ॥  
(नमस्तस्मै कृता येन पुण्या रामायणो कथा ।  
सद्वयणापि निर्दोषा सखरापि शकोमया ) ॥  
एक छत्र एक मुकुट मनि, राज बरननि पर जोउ ।  
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ ॥  
(निर्वर्णं रामनामेवं केवलं च स्वरूपिणम् ।  
सर्वेषां मुकुटं छत्रं मकारो देवपूजनम् ॥ )

ब्रह्मांडनिवासा निर्मितमाया रोम रोम प्रति बंध बहं  
मम उर दासी यह उपहासी गुनत धीर मनि बिर न रहें  
(जउरे तब दृश्यने ब्रह्मांडाः परमाणवः ।  
एवं यमोदर संभृत इति लोचान् विदंबने ॥)

इसी प्रकार बिबिधा बांड में वर्ण और दातृ जगु के

## भारत मातोलना

सदमागवा मे जिमें गए हैं। जहाँ-जहाँ गोसाईजी ने दार्शनिक विचार  
 बिना बना-बना सिंहरा भगवद्गीता की व्याख्या की है।

रामचरितमानस में ही मही, प्रायः सब ग्रंथों में उन्होंने संसृति के  
 मही छोड़े हैं। मही केवल कविगायत्री के एक उदाहरण देने—

भापरो भयम जइ नाबरो जरा जनम,  
 गूकर के सायक ठकाटलेला मग में।

गिरघों हिय हृदिर हराम हो हराम हय्यो,  
 हाइ हाइ करत परीगा काल फग में॥

तुलसी, विसोक हवं त्रिलोकपति-सोक गयो,  
 नाम के प्रताप, यात विदित हैं जग में।

तोइ रामनाम जो सनेह सों जपत जम,  
 ताकी किमि महिमा कही हं जात जग में॥

(देवाचष्टकरसायकोन निहतो म्लेछो जराजंरो  
 हा रामेतिहतोऽस्मि भूमिपतितो जल्पंस्तनुं त्यक्तवान्।

तीर्णो गोपदपद्भवाण्यवमहो ताम्नः प्रभावात् पुनः  
 किंचिद्विचरं यदि रामनामरसिकास्ते यांति रामास्पदम्॥)

किंचिद्विचरं यदि रामनामरसिकास्ते यांति रामास्पदम्॥)

धाराहपुराण।

२५ दृष्टि से देखने पर गोसाईजी के अपनी रामायण को 'छत्रों  
 स्त्र सब ग्रन्थ को रस' कहने की स्यायता प्रकट हो जाती है। गणित,

इतिथ, दर्शन आदि सभी शास्त्रों का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। तुलसी ~~धर्म~~  
 नका गणित ज्ञान भली-भाँति प्रकट होता है। नौ के पहाड़े का यह

मय प्रयोग देखिए—

तुलसी राम सनेह कय त्यागु सकल उपचार।  
 जैसे घटत न अंक नौ नौ के लिखत पहार॥

१ प्रकार 'जग ते रघु छतीस (३६) हवं, राम चरन छ. तीन  
 में अकों की स्थिति का अच्छा परिज्ञान प्रकट होता है।

‘सास्त्रं पुनर्विनि पुन पुन देवित्र । भूप तुपेविन यत नहि लेवित्र ॥  
 रावित्र नारि जदपि उर गाहीं । अइति सास्त्रं नृपती यत नाहीं ॥  
 यह निम्नलिखित श्लोक का अनुवाद है—

१ ‘सास्त्रं पुनर्विनिपुनरपि प्रतिवर्तनीयं  
 स्वासाधिरपि नृपतिः परित्यक्तनीयः ।

अर्थ स्थापित पुनः पुनः परित्यक्तनीयः

सास्त्रे नृपे च युक्तौ च कुरो वदित्वम् ॥’ ५५

इसमें उपदेश चाहे जितना अच्छा हो, या भाव सासारिक व्यवहार को देखने हुए चाहे जितना मज्जा हो, परन्तु जिस स्थान पर ये साईंजी



ने इसे बताया है उस स्थान पर इगला कहना उचित नहीं है। यदि सीताको तम में प्रेम न होने के कारण स्वयं अपनी इच्छा से रावण के साथ चले होतीं तभी यहाँ पर इगली संगति बँडी। परन्तु तम सीता के लिये उन के द्वार में—

‘हा गुनगानि जानकी सीता । रुच सोल घत नेम पुनीता ॥’  
यह पारना हो, उसको उद्देश्य करो “जुवति X X X बस नहीं”  
कहना गर्वया अनुचित और अप्राप्तिक है।

परन्तु इतने बहुरूप में गुण-वाङ्मय के बीच यह एक अनौचित्य दृष्ट-  
गुण जाता है।

वाल्मीकि ने बरात के जनरपुर से चले जाने के पीछे मार्ग में परशुराम का मिलना लिखा है। परन्तु गोसाईजी ने इस घटना को हनुमन्नाटक के अनुसार धनुष-भग के पीछे यज्ञ-भूमि में ही घटित किया है। इनके एक तो लक्ष्मण के लिये उद्यत राजाओं की बोलती बन्द हो गई और दूसरे बरात के टोके जाने की अमंगल घटना न हुई। परन्तु गोसाईजी ने हनुमन्नाटक से भी इस अवसर पर कुछ भेद रखा है। हनुमन्नाटक के अनुसार रामचन्द्र का परशुराम से वाग्मुद्ध भी हुआ था। परन्तु गोसाईजी ने इसे रामचन्द्र के महत्व के अनुकूल न समझकर लक्ष्मण के बाटे में रखा है। जानकी-मंगल में न जाने क्यों गोसाईजी ने इस विषय में वाल्मीकि ही का अनुसरण किया है। गीतावली में तो यह घटना गोसाईजी ने दी ही नहीं है।

वाल्मीकि ने जयत का काक-रूप में आकर सीताजी के स्तन-देश में चोच मारना लिखा है और इस कथा को सुन्दरकांड में सीता के मुँह से हनुमानजी के प्रति कहलाया है, जिससे वे राम के पास जाकर सीता मिल जाने का प्रमाण दे सकें। गोसाईजी जगज्जननी सीता के विषय में ऐसी बातें कह नहीं सकते, इससे उन्होंने अध्यात्मरामायण के अनुसार वर्ण में चोच मारना लिखा है और इस घटना का उल्लेख पंचवटी के ही वर्णन के अन्तर्गत किया है।

सेतुबन्ध के समय शिवजी की स्थापना की ओर वाल्मीकि ने राम-

‘अब गुरु जागु सत्ता गय, भजेहु मोहि दुहु नेम ।

सदा सर्वथा सर्वत्र, जानि करेहु अनि प्रेम ॥’

यदि कोई पुरोहीय कह बेंटे कि बन्दरो के ही ऊपर हम बचन का प्रभाव हो सकता था, तो उमने लिये अवकाश है । परन्तु भक्तों के लिये इसी में मौद्रं है । बही-बही गोसाईंजी अगमय बानें भी लिख गए हैं । बादलों का धड़ा के कारण किसी पक्षि पर छाया करने की उद्भावना अस्वाभाविकता की सीमा तक नहीं पहुँचती । पृथ्वी पर न उतरकर देवताओं के आवास ही से फूट गिराने तक भी मनीमत है, किन्तु राम के लिये सीधे स्वर्ग से दश का रावग से लड़े के लिये रथ भेजना अस्वाभाविक लगता है ।

जिम प्रकार गोसाईंजी का जीवन राम-मय था उसी प्रकार उनकी बलिता भी । एक राम को अपनाकर उन्होंने सारे जगत् को अपना लिया । रामचरित कहकर कोई वस्तु ऐसी न रही जिसके विषय में उनके लिये

कहना शेष रह गया हो। रामचरित्र की व्यापकता में उन्हें अनौपमिक के संतुर्ण कौशल के विस्तार का सुयोग प्राप्त था। उन्हीं में उन्होंने दोनों सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया। अन्तःप्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों से उनके हृदय का समन्वय था। दोनों को उन्होंने निःप्रतिपत्ति परिस्थितियों में देखा था। उनकी पारंगामी सूक्ष्म दृष्टि उनके अन्तःस्तर तक पहुँची थी। इसी से उन्हें चरित्र-चित्रण और प्रकृति-चित्रण दोनों में सफलता प्राप्त हुई। परन्तु गोसाईंजी आध्यात्मिक धर्मशील प्रकृति के मनुष्य थे। सबके संरक्षक राम के प्रेम ने उन्हें संरक्षण के मूल शीलमय धर्म का धर्म बनाया था, जिसके संरक्षण में उन्हें प्रकृति भी संलग्न दिखाई देती थी। ईशा सरोवर का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

फलभार नम्र बिटप सब रहे भूमि निअराइ ।  
पर उपकारी मुख जिमि नवाहि सुसंपति पाइ ॥  
सुखी मोन सब एकरस अति अगाध जल माहि ।  
जया धर्मशीलन्हि के दिन सुख संगत जाहि ॥

प्राकृतिक दृश्यों में शील संरक्षिका धर्मशीला नीति की यह छान उनके काव्यों में सर्वत्र दिखाई देती है। किष्किष्काण्ड के अन्तर्गत शारद ऋतु के वर्णन इसके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। यह गोसाईंजी महत्त्व है कि धर्म-सादृश्य, गुणोत्कर्ष आदि अलंकार-योजना के सामान्य प्रयोग का निर्वहण करते हुए भी वे शील और गुरुत्व के प्रचार में सफल हैं।

गोसाईंजी का प्रकृति से परिचय केवल परम्परागत नहीं था। जिने प्रकृति के परम्परागत प्रयोगों को स्वीकार किया है, परन्तु वहीं जहाँ तक ऐसा करना सुख के प्रतिकूल न पड़ता। शीला के विरोध स्थापन करते हुए रामचन्द्र के इस कथन में—

संजन, सुक, कपोत, भृग, भीना । मयुष-निकर, कीजिला प्रबीना ॥  
जुन्दकली, डाड़िम, दामिनी । कमल, सरस सति, अहि-भाविनी ॥

बलन-यान, मनोज-घनु, हंसा । गज, केहरि, निज सुनत प्रसंता ।

शोकन, बनक, बदलि, हरपाही । नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥'

उन्होंने कवि-परम्परा का ही अनुसरण किया है । ये उपमान न जाने कब से भिन्न-भिन्न अंगों की, विशेषकर स्त्रियों के अंगों की, सुन्दरता के प्रतीक रूपसे आते हैं । मूल रूप में ये मनुष्य जाति की, और विशेषकर उनके अधिक भावुक अंग अर्थात् कवि-समुदाय की, निसर्गसौन्दर्य-प्रियता के चोतक हैं परन्तु आगे चलकर इनका प्रयोग केवल परम्परा-निर्वाह के लिये हीने लगा । गोमाईजी के समकालीन कवि मूरदास और केरावदास आदि में यही बात देखी जाती है । परन्तु गोमाईजी ने परम्परा के अनुसरण से ही सीखा कि, ऐसी बात नहीं । उन्होंने अपने लिये अपने आप भी प्रकृति का पर्यवेक्षण किया था । उनके हृदय में प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रभावित होने की क्षमता थी । उनके विशाल हृदय में जड़ और चेतन, सृष्टि के दोनों अंग एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हुए उद्भूत होते हैं । उनकी दृष्टि में स्थानि-भूरित हृदय को लेकर रामचन्द्र को मनाकर लौटा लाने के लिये जानेवाले शील-निधान भरत के उद्देश्य में प्रकृति की भी सहानुभूति है । इसीलिये उनके मार्ग को सुगम बनाने के लिये—

‘किए जाहि छाया जलद, सुखद बहति बर बात ।’

प्रकृति की सरल सुन्दरता उनको सहज ही आकर्षित कर लेती थी । पक्षियों का बलरब, जिसमें वे परमात्मा का गुणगान सुनते थे, उन्हें आसन्नक प्रीति होता था—

बोलत जलकुक्कुट बलहंसा । प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंता ॥

सुन्दर लग मन गिरा सोहाई । जात पयिक जनु सेत घोलाई ॥'

कोटिगुप्त की मधुर ध्वनि उन्हें इतनी मनमोहक जान पड़ती थी कि उससे मुनियों का भी ध्यान बग हो जाय ।

‘जड़ चेतन भय जोव जन्त’ शब्द को राममय देशनेवाले गोमाईजी का हृदय यदि प्रकृति की सुन्दरता के आगे उछल न पड़ता तो यह आश्चर्य की बात होती ।

प्रहल-गोदगं के निचे उमके हृदय में जो कोमल स्थान था उसे का मतान है कि हिन्दी में स्त्रीरूप विपरण-मान दे देने की परम्परा से ऊपर उठकर कहीं-कहीं उनकी प्रतिभा ने प्रहल के पूर्ण चित्रों का निर्माण किया है। प्राकृतिक दृश्यों के यथातथ्य चित्रण की जो क्षमता यत्र-तत्र गोसाईंजी में दिखाई देती है वह हिन्दी के और किसी भाषा में देखने को नहीं मिलती।

‘रायनू बीस पय उतर करारा । चहुं दिशि किरैउ धनुष जिमि नारा ॥  
मदी पगध रार राम दम दाना । सकल बल्लूय कलिसाउज नाना ॥  
चित्रकूट जनु अचल धहेरी । धुफइ न घात मार मुठ भेरी ॥’

इस डेढ़ चौपाई में गोसाईंजी ने चित्रकूट और उसके पाद पर बहने वाली मदाकिनी का गुन्दर तथा यथातथ्य चित्र अंकित कर दिया है और साथ ही तीर्थ का माहात्म्य भी कह दिया है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत का इतना सार्थक समन्वय गोसाईंजी की ही कला का कोसल है।

गीतावली में उन्होंने चित्रकूट का जो चित्र अंकित किया वह और भी मनोरम और पूर्ण है—

‘सोहत स्याम जलद मूड धोरत धानु रंगमंगे संगनि ।  
मनहुं आदि अंभोज बिराजत सेवित सुरमुनि-भुगनि ॥  
सिखर परस धनयदहि मिलति यगपाति सो छत्रि कवि धरनी ।  
आवि मराह विहरि बारिधि मनो उठयोहुं दसन धरि धरनी ।  
जल-जुत बिमल सितनि क्षलकत नभ बन-प्रतिबिम्ब तरंग ।  
मानहुं जग रचना विचित्र विलसति बिराट अंग अंग ॥’

इसी प्रकार पंथा सरोवर पर जल पीने के लिये आए हुए मृगों के झुंड का यह चित्र भी वस्तुस्थिति को ठीक-ठीक आँखों के सामने खींच देता है—

‘जहुं तहुं पिपहि विविध मृग नीरा ।  
जनु उदार गृह जाचक-भीरा ॥’

‘भोजनि, मन्दार, मनीष, मूर्ति, हेम, हस्ति के पाछे ।

घासनि, मरनि, सिन्धोवनि, विषयनि, घने मृगी उर आछे ॥’

मृग के पीछे दौड़ते हुए, घास छेड़ते के लिये घबराते हुए, मृग के भाग जतने पर दूर तक दृष्टि डालते हुए और हाववर परिश्रम जनाते हुए राम का बंसा मशीन चरन्वित्त आँगी के सामने आ जाता है ।

राज्य प्रवृत्ति में अधिपति गंगाईत्री की मूढम अन्तर्दृष्टि अन्तःप्रवृत्ति पर पड़ी थी । मनुष्य-जगत् में उनका सर्वोपनिषत् परिचय था । भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्री में पढ़कर मन की बया दसा होती है, इसको ये भली भाँति जानते थे । इसी में उनका चरित्र-चित्रण बहुत पूर्ण और दाय-रहित हुआ है । राम-चरितमानस में प्रायः सभी प्रकार के पात्रों के चरित्र-अवन में उन्होंने अपनी निदहस्तता दिखाई है । दूसरे के उत्कर्ष को अवधारण ही न देना सकनेवाले दुर्जन किस प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति को अपनी मनोवृत्ति देने के लिये पहले स्वयं स्वायत्त्यागी बनकर अपने को उनका हितपो अताकर उनके हृदय में अपने भावों को भरते हैं, इसका मयरा के चरित्र में हम अच्छा शिक्षार्थ मिलता है । दुर्जनो की जितनी चालें होती हैं उन्हीं के दिग्दर्शन के लिये मानों मरस्वती मयरा की शिक्षा पर बैठी थी ।

जिस पात्र को जो स्वभाव देना उन्हें अभीष्ट रहा है उसे उन्होंने कोमल वय में बीज-रूप में दिखलाकर आगे बढ़ते हुए भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसके नैतिक विकास दिखाया है । रामचन्द्र के जिन स्वायं

राम को हम धातुवत् से विजित, व्यापनः स्वायत्त और वस्तुन हाथ में  
 आए हुए लंका के समूह राज्य को बिना हिनक विभीषण को छोड़ देने  
 देगते हैं यह एकाकी भाई हुई उमंग का परिणाम नहीं है। वह रामचन्द्र  
 धान्यकाग ही से जन्मपूर्वक भित्तम पाया हुआ स्वभाव है। उगे हम चौपा  
 के गेत में छोटे भाइयों से जीतकर भी हार मानने हुए बालक राम ने  
 अन्य पुत्रों की उमंग कर जेठे पुत्र को ही राज्याधिकारी माननेवाली बन्ध्या  
 युक्त प्रथा पर विचार करते हुए युवा राम में, और फिर प्रसन्नता से राज  
 छोड़ कर यनयासी ऋषि-मुनियों की भाति तपोमय जीवन बिताते हुए  
 यनयासी राम में देगने है।

रामचरितमानस में राज्य का जितना चरित हमारी दृष्टि में  
 पड़ता है उसमें आदि से अन्त तक उसकी एक विशेषता हमें दृष्टिगत होती  
 है। यह है घोर भौतिकता। कदाचित् आत्मा की उपेक्षा करते हुए भौतिक  
 शक्ति का अर्जन ही गोगाईजी राजसत्त्व का अभिप्राय समझने थे। उस  
 अपार बल, विश्वविश्रुत वैभव, उसकी धर्महीन शासन-प्रणाली जिन में  
 ऋषि-मुनियों से कर यमूल किया जाता था, उसके राज्य भर में धार्मिक अभि-  
 रुचि का अभाव, ये सब उसके भौतिकवाद के चोतक हैं। प्रश्न उठ सकता  
 है कि यह बड़ा तपस्वी भी तो था ? किन्तु उसके तप से भी उसकी भौतिकता  
 का ही परिचय मिलता है। वह तप उसने अपनी आध्यात्मिक उन्नति या  
 मुक्ति के उद्देश्य से नहीं किया था वरन् इस कामना से कि भौतिक सुख  
 को भोगने के लिये वह इस शरीर से अमर हो जाय।

हनुमानजी में गोगाईजी ने सेवक का आदर्श खड़ा किया है। वे  
 राम के सेवक हैं। गाढ़े समय पर जब सबका धैर्य और शक्ति जवाब दे  
 जाती है तब हनुमानजी ही से राम का काम सधता है। समुद्र को लाघ-  
 कर सीता की खबर वही लाए। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर द्रोणाचल  
 पर्वत को उखाड़ ले आकर उन्होंने सजीवनी बूटी प्रस्तुत की। भक्त के  
 हृदय में बसने की राम की प्रतिज्ञा जब व्यवधान में पड़ी तब उन्होंने अपना  
 हृदय चीरकर उसकी सत्यता सिद्ध की। परन्तु हनुमानजी के चरित्र

वै एक घात से कुछ असांमजस्य हो सकता है । वे सुग्रीव के सेवक थे । सुग्रीव में बड़कर राम की भक्ति करके क्या उन्होंने सेवाधर्म का व्यतिक्रम नहीं किया ? नहीं, लंका-विजय तक वास्तव में उन्होंने सुग्रीव की सेवा कभी छोड़ी ही नहीं और लोगो से कुछ दिन बाद तक जो वे अयोध्या में राम की सेवा करते रहे वह भी सुग्रीव की आज्ञा से—

‘दिन दसि करि रघुपति-पद-सेवा । पुनि तय चरन बेसिहीं देवा ॥’

पुन्य पूज तुम पवन-कुमारा । सेवहु जाइ कृपा-आगारा ॥’

इसी प्रकार भरत के हृदय की सरलता, निर्मलता, निःस्पृहता और धर्म-श्रवणता उनकी सब बातों से प्रकट होती है । राम खुशी से उनके लिये राज्य छोड़ गए हैं, कुलगुरु वशिष्ठ उनको सिंहासन पर बैठने की अनुमति देने हैं, कौशल्या अनुरोध करती हैं, प्रजा प्रार्थना करती हैं, परन्तु सिंहासनासीन होना तो दूर रहा, वे इसी बात से दुःख हैं कि लोग कंकेयी के कुचक्र में उनका हाथ न देखें । वे माता से उसकी कुटिलता के लिए रुष्ट हैं । परन्तु साथ ही वे अपने को माता से अच्छा भी नहीं समझते इसी में उनके हृदय की स्वच्छता है । जब माता ही बुरी है तो पुत्र भला कैसे हो सकता है ?—

‘भानु मंद में साधु सुचाली । उर अस आनत कोटि फुचाली ॥’

उनको सिंहासन स्वीकार करने के लिए आप्रह करने वाले लोगो से उन्होंने कहा था—

‘कंकेयि-सुअन कुटिल-मति, राम-विमुख गत-लाज ।

तुम्हें चाहत सुख मोह-बस, मोहि से अपम के राज ॥’

भरत के सबध में चाहे यह बात न खपती और वे प्रजा का पालन बड़े प्रेम से करते जैसा उन्होंने किया भी, परन्तु उनका राज्य स्वीकार करना महत्वावांशी राजकुमारो और द्वेषपूर्ण सीतो के लिये एक बुरा मार्ग गोल देता, जिससे प्रत्येक अभिषेक के समय विनी न विनी बांड की आशंका बनी रहती । इसी भाव की दृष्टि में रत्नकर उन्होंने कहा था—

‘मोहि राज हठि बेइहज जबही । रसा रसातल जाइहि तबही ॥’



भरत की लोक-मर्यादा की, जिसका ही दूसरा नाम धर्म है, रक्षा की इस चिंता ने ही राम को—

‘भरत भूमि रह राउरि राखी ।’

कहने के लिये प्रेरित किया था। उमड़ते हुए हृदय और बाष्प-नश्वर कंठ से भरत के राम को लौटा लाने के लिये चित्रकूट पहुँचने पर जब उन ने उनसे अपना धर्म-संकट बतलाया तब उसी धर्म-प्रवणता ने उन्हें राम का भार स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। परन्तु उन्होंने केवल राम के कर्तव्य की कठोरता को स्वीकार किया, उसके सुख-वैभव को नहीं। सुख-वैभव के स्थान पर उन्होंने बनवासी का कष्टमय जीवन स्वीकार किया। जिससे उनके उदाहरण से धर्मोल्लसन की आशंका दूर हो जाय।

परन्तु वास्तविक मानव-जीवन इतना सरल नहीं है जितना सामान्यतः बाहर से दीखता है, या ऊपर के वर्णन से प्रकट हो सकता है। मनुष्य के स्वभाव में एक ही भावना की प्रधानता नहीं रहती। प्रायः एक से अधिक भावनाएँ उसके जीवन में स्थित होकर उसके स्वभाव की विशेषता लक्षित करती हैं। जब कभी ऐसी दो भावनाएँ एक दूसरे की विरोधिता होकर आती हैं उस समय यदि कवि इनके चित्रण में किंचित् भी अमान्यता करे तो उसका चित्रण सदोष हो जायगा। उदाहरण के लिये गोसांझी ने लक्ष्मण को प्रबंड प्रकृति दी है, परन्तु साथ ही उनके हृदय में राम के लिये अगाध भक्ति का भी सृजन किया है। जहाँ पर इन दोनों बातों का विरोध न हो वहाँ पर इनके चित्रण में उतनी कठिनाई नहीं हो सकती। जनक के ‘बीर-बिहीन मही मैं जानी’ कहते ही ये तमक कर कह उठते हैं—

‘रघुवंसिन महं जहं कोउ होई । तेहि समाज अत कहै न कोई ॥’

परशुराम के रोष भरे वचनों को सुनकर ये कोरी-कोरी गुनाने में कुछ उठा नहीं रखते—

‘भगुवर परसु बेलायहु मोही । विप्र बिचारि बची नृप मोही ॥  
मिले न कष्टहुं सुभट रन गाढ़े । डिअ बेवता परहि के पाढ़े ॥’  
और भरत को ससैन्य चित्रकूट की ओर बाले देस राम के अनिष्ट

हैं, क्योंकि यही पर शीघ्र प्रकट करना लक्ष्मण ने स्वयं के विनयेन होगा। ऐसा करने से ये राम की मति के विरुद्ध काम करते। लक्ष्मण के मनवाग की खाता का सब पता पता जब राम मन के लिये तैयार हो चुके थे। एक पदानुगारी भूषण की भाति ये भी बुगन्नाय मन जाने की तैयारी करने लगे। यह बात नहीं कि उन्हें शीघ्र न हुआ हो, शीघ्र हुआ अवश्य था, परन्तु उन्होंने उसे दबा दिया। गर्मन्त्र भरल को विचकूट आने हुआ देखकर—

‘आइ बना भेल सकल समाज । प्रकट करौ रिति पाछलि आज ।’

बहकर उन्होंने जिस रिग का — — — — — था वह यही रिम है जि  
उन्होंने उस समय तोमाईजी ने भी इस अवसर

की गम्भीरता की रक्षा के उद्देश्य से लक्ष्मण के मन की दया का इस्तेमाल नहीं किया।

द्विती प्रणाल लंका जानें के लिये प्रस्तुत रामचन्द्र ने तीन दिन तक समुद्र से रास्ता देने के लिये विनय की। लक्ष्मण को विनय की बात पड़ न आई। परन्तु उन्होंने अपनी अरुचि प्रकट नहीं की। जब रामचन्द्र ने समुद्र को अग्नि-वाणों से सोलने का विचार करके धनुष सोचा तब लक्ष्मण को प्रसन्नता दिमला कर गोसाईंजी ने इस अरुचि की ओर संकेत किया।

भाव-द्वन्द्व का एक ओर उदाहरण लीजिए। कैंकेयी के कहने पर रामचन्द्र न बन जाने का निश्चय कर लिया है। इस समय दशरथ राम-प्रेम और उनकी सत्य-प्रतिज्ञता दोनों कसौटी पर हैं और उनके साथ-साथ गोसाईंजी का चरित्र-चित्रण-कौशल भी। पहले तो बन जाने की आज्ञा गोसाईंजी ने दशरथ के मुह से नहीं कहलाई है। 'तुम बन चले जाओ' अनन्य प्रेम के कारण दशरथ यह कह नहीं सकते थे। वे चाहते नहीं थे कि राम बन जाय। वे चाहते तो इस समय अपने वचन की अवहेलना करके रामचन्द्र को बन जाने से रोकने का प्रयत्न कर सकते थे। परन्तु वचन-भंग करने का विचार भी उनके मन में न आया। हा, वे मन ही मन देवताओं को मनाते रहे कि राम स्वयं ही—

‘वचन मोर तजि रहहि घर परिहरि सील सनेहु।’

सत्य-प्रतिज्ञ दशरथ अवमानित पिता होकर रहना अच्छा समझते थे, परन्तु राम का विछोह उन्हें असह्य था। उनका यह राम-प्रेम कोई छिपी बात नहीं थी। कैंकेयी को समझाते हुई विप्र-वद्वुओं ने कहा था—‘तुप कि जिइहि विनु राम’। लक्ष्मण को समझाते हुए राम ने इस आशंका की और संकेत किया था—‘राउ बूढ, मम दुल मन माहो’। हुआ भी यही। वचनो की रक्षा में जो राजा छाती पर पत्थर रखकर प्रिय पुत्र राम को बन जाते हुए देखते हैं, उन्हीं को हम राम के विरुद्ध में स्वर्ग जाता हुआ देखते हैं।

इस प्रकार जिस स्वभाव का व्यक्ति जिस अवस्था में जैसा काम करता, गोसाईजी ने उसे बना ही करते दिखाया है । इनका केवल एक बन्धन हमें मिलता है । वह है राम का बालि को ठिठकर मारना । यह शीलमानस न्यायप्रेमी राम के स्वभाव के अनुकूल नहीं हुआ है—

‘मारेहु मोहि ब्याध की नाई ।’

मरने समय बालि के किए हुए इस दोषारोपण का राम कोई मतोप-यनक उत्तर नहीं दे सके ।

‘अनुज-वधू भगिनी सुत नारी । सुन सठ कन्या राम ये घारी ।

नाहि कुतूहल बिलोकइ जोई । ताहि बधे कुछ पाप न होई ॥’

अनुज-वधू यदि कन्या के समान हैं तो क्या अग्रज-वधू भी माता के समान नहीं हैं ? सुप्रीय का तो इसके लिये रामचन्द्र ने बध नहीं किया । यदि बालि वधू भी था और वह भी राम के द्वारा तो भी कोई यह नहीं कह सकता कि जिस उपाय से राम ने बालि को मारा वह उचित था । राम को चाहिए था कि पहले बालि पर दोषारोपण करते, फिर उसे सल-कार कर युद्ध में मारते जैसा महावीर-चरित में भवभूति ने कराया है । उसमें राम के बालि को अपना शत्रु समझने का भी कारण दिया गया है; क्योंकि बालि ने पहले ही राम के विरुद्ध रावण से मित्रता कर ली थी । दूसरे के साथ युद्ध में लगे हुए व्यक्ति को, जिसे उनकी ओर से कुछ भी सटका नहीं है, पेड़ की आड़ से छिप कर मारना राम के चरित पर एक बड़ा भारी कलक है जिस पर न तो हेतुवाद के चूने में कोई लीपा-पोती की जा सकती है और न मनुष्यता के रंग में ही । उद्देश्य चाहे कितना ही उत्तम क्यों न हो वह इनमें गहित उपाय के अनौचित्य को दूर नहीं कर सकता, और न यह कलक रामचन्द्र को अवतार से मनुष्य की कोटि में उतार लाने के लिये ही आवश्यक है । विरहानुरता में बरुग विलाप करते हुए तथा लक्ष्मण को पवित्र लगने पर यह कहने हुए—

‘जनार्थी जो बन बंधु-बिछोड़ । पिता-वधन मनत्यों नहि ओढ़ ॥’

उन्होंने जो हृदय की मानवोचित मधुर वमजोरी दिखाई है वही







मित्र के चेहों के रूप में राम-नरमन हमें देने हैं जो गुरु में पहले जाग-  
कर उनकी सेवा-शुभूषा में संलग्न दिखाई देने हैं । भगवद्विषयक रति की  
सबसे गहरी अनुमति उनकी विनयपत्रिका में होती है, यद्यपि उनके अन्य  
ग्रंथों में भी इसकी कमी नहीं है । शृंगार रग के प्रवाह में पाठकों को  
आपन्न करने में गोसाईंजी ने कोई कसर नहीं रची है, परन्तु उनका  
शृंगार रस रीति-बाल के शृंगारी कवियों के शृंगार की भांति कामुकता  
का नग्न नृत्य न होकर सर्वथा मर्यादित है । शृंगार रग यदि अश्लीलता से  
बहुत दूर पवित्रता की उच्च भूमि में कही उठा है तो वह गोसाईंजी की कविता  
में । जहाँ परम भक्त सूरदास भी अश्लीलता के पक्ष में पड़ गए हैं वहाँ  
गोसाईंजी ने अपनी कविता में लेश-मात्र भी दुर्भावना गही आने दी है—

‘करत घतकही अनुज सन, मन सिय-रूप लुभान ।

मुख सरोज-मकरंद-छबि, करद मधुप द्वय पान ॥

देखन मिस मृग बिहंग सख, फिरद बहोरि बहोरि ।

निरलि निरलि रघुबीर छबि, बाढ़इ प्रीति न धोरि ॥’

एक-दूगरे के प्रति अकुरित होते हुए इस सहज प्रेम के द्वारा किसके  
हृदय में शृंगार रस की पुनोत्पत्ति व्यजना न होगी ?

फिर विषकूट में लक्ष्मण की बनाई हुई पणंगाला में—

‘निज कर राजीव नयन, पल्लव दल रचित सपन,

प्यास परस्पर विपूर प्रेम पान की ।

सिय अंग लिलैं पानु राग, सुमननि भूषन बिभाग,

तिलक करनि का बही कला-निधान की ।

मानुरी बिलास हास, गावत जस तुलसिदास,

बसति हृदय जोरी मिय परम प्रान की ।’

सचमुच सरल प्रेममय यह जोड़ी हर एक के हृदय में धर कर लेती  
है । इनका यशोगान करती हुई गोसाईंजी की वाणी धन्य है, जिसने वासना-  
विहीन शुद्ध आपत्य प्रेम का यह परम पवित्र विश्व लोक के समस्त रसा  
है । जब कोई विदेशी कहता है कि हिन्दी के कवियों ने प्रेम को वासना



और स्त्री को पुरुष के विलास की ही सामग्री समझकर हिंसी-साहित्य को गंदगी से भर दिया है तब 'यह साँछन सर्वांग में सत्य नहीं है' यह सिद्ध करने के लिए गोसाईंजी की रचनाओं की ओर संकेत करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई साधन नहीं रहता ।

गोसाईंजी के विप्रलम्भ शृंगार की मूढ कठोरता सीता-हरण के समय राम के विलाप में पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है ।

वात्सल्य की मनोहरता इसमें देखिए—

‘ललित सुतहिं लालत राघु पाए

कौसल्या फल फनक अजिर महं सिषवति चलन अंगुरियां साए ॥

\* \* \* \*

बंतियां द्वंद्वं मनोहर मुख छवि अदन अपर चित सेत घोराए ।

किरकि किलकि नाचत छुटकी सुनि डरपत जननि पानि छुटकाए ॥

गिरि छुटवनि टेकि उठि अनुजनि तोतरि बोलत पूष बेलाए ।

बालकलि अवलोकि मातु सब मुदित मगन आनंद न अमाए ॥’

जन्मभूमि के प्रेम का भी, जो स्यादित्य को पाकर आजकल कविता में रस की श्रेणी तक पहुँच गया है, एकाध छोटा गोसाईंजी ने छिड़का है, जिसका उल्लेख हम पहले कर आये हैं ।

करुण रस की धारा राम के वनवासी होने पर और लक्ष्मण को शक्ति लगने पर फूट पड़ती है । राम के वनवासी होने पर तो शोक की छाया मनुष्यों ही पर नहीं, पशुओं पर भी पड़ी । जिस रस पर राम को सुमित्र कुछ दूर तक पहुँचा आया था, लौट आने पर उसमें जुने हुए घोड़ों की आकुलता देखिए—

‘देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं । जनु बिनु पंख बिहंग अकुलाहि ॥

तुन चरहि, न पियहि जल, मोचहि लोचन वारि ।’

जब यह दशा थी तब पुरवासियों की ओर विशेषकर

उन की क्या दशा हुई होगी !

‘अबिहीन मही मैं जानी’ कहने पर लक्ष्मण

दिग्गजा बर उन्नेनं अद्भुत रम दा समन्वार दिग्गजादा । शिवजी की  
 बगन के दान और नानद-मोह में हारम रम के पुजारे सटने हैं । स्वयं  
 राम-नया के भीतर वृद्धिम रूप बना बर आई हुई याम्भव में वृद्धा  
 मृगमग के राम के प्रति इन वारन में ओठ मन्त्र ही जाने हैं—

‘तुम्हें रम पुरय न मो रम नारी । यह मरोग विधि रचा विचारी ॥

रम अनुप पुरय जग माहि । देखिउं लोजि लोक तिहुं नाहीं ॥

ताने अब सगि रहिउं कुमारी । मन माना बर तुम्हि निहारी ॥’

एकदम दम पर मन ही मन सब हमें थे । इसी कारण जब राम ने  
 उसे उनके पान भेजा तो उनमें भी न रहा गया । बोले, उन्हीं के पान जाओ ।  
 वे राजा हैं, नव कुछ उन्हें सोभा दे गवता हैं—

‘प्रभु समरप कोसलपुरराजा । जो बरुं करीह उर्ताह सब छाजा ॥’

इनका होने पर भी, यह वही नहीं भान होता कि गोसाईजी ने  
 प्रयत्नपूर्वक आलबन, उद्दीपन, मचारी आदि को जुटाकर रम-परिपाक  
 का आयोजन किया हो । प्रबध के स्वाभाविक प्रवाह के भीतर स्वत ही  
 रम की तलैया बध गई है जिनमें जो मर दुबकी लगा कर ही साहित्यिक  
 तैराक आगे बड़ने का नाम लेता है ।

वात यह है कि वे कला को कलावाजी की श्रेणी में गिरा देना नहीं  
 चाहते थे । कला (आर्ट) और कलावाजी (आर्टिफिस) में सदा से भेद

होता आया है। इसी प्रकार खाली कारीगरी भी कला नहीं है। कला (आर्टिस्ट) न कारीगर (आर्टिजन) है और न कलावाज (आर्टिफिश) कलावाज केवल हाथ की सफाई दिखाता है और कारीगर की मकाना उसके परिश्रम में है, जबकि कलावत विवश होकर कला की मूर्ति साधन बनता है, उसमें स्वतः कला का स्फुरण होता है। कलावाज न कारीगर स्वयं अपनी सृष्टि के कर्त्ता है, परन्तु कलावत कला की अविश्व व्यक्ति का एक माध्यम मात्र है। कलावाज और कारीगर में उनकी इच्छा शक्ति प्रेरणा करती है, कलावत की विशेषता उसकी विवशता में है

‘कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय ।

वह खाए बीरात है, यह पाए बीराए ॥’

में कलावाजी है। इस दोहे की विशेषता उक्ति का अनुशासन है जो सौ और घटूरा दोनों के लिए एक ही शब्द रख देने से आया है। कलावाज ने जहाँ तीन अर्थ एक-एक छंद में ठूस कर भरे हैं वहाँ वे कारीगर का वा करते हैं।

‘मेरी सब पुहारय धाको ।

विपति बटावन बंधु-बाहु-जिनु करौ भरोसो काको ।

सुनु सुग्रीव सांच हूं मो रान फेरयो बदन बिधाता ।

ऐसेउ समय समर संकट हों तज्यो लखन सो ग्याता ॥

गिरि कानन जहें सायामग हों पुनि अनुज-सपातो ।

हवं है कहा जिभीपन की गति रही सोच भरि छाती ॥’

गोमार्दजी का यह पद शुद्ध कला का नमूना है। इसमें न कहीं प्रयत्न दीप्तता है और न कहीं धान की व्योम ही है। गीधे हृदय से निकली हुई बाने है, कहीं बनावट नहीं है। गोमार्दजी की रचना अधिकतर इसी श्रेणी की है। कलावाजी तो उनमें नहीं के बराबर है। यशुज बुझने में हमें एक उदाहरण मिला—

‘साधु धरित सुभ सरित बपायू । निरत बिषय गुनमय कल जानू ॥

जो सहि दुख पर छिड़ बुराया । बंझीय जंति जगु जगु पाया ॥’

होती हैं । स्वयं-श्रुति इस व्यक्तिगत को देती है,—

‘ओ छवि-मृदा-मयोनिधि होई । परम-रूपमय बच्छप सोई ॥

गोमा रज्जु महर गूनाह । मये पानि पंकज निज भाह ॥

इहि बिधि उपजं लखि जय, गुनरता गुण मूल ।

तदपि संकोच समेत बनि, बहहि शीघ्र सम तूल ॥

इसमें जानकीजी के मोदय की अनुभूति के गाय-गाय कितने आदर भाव का उदय मन में होता है । परन्तु इस प्रकार की कारीगरी विशेष रूप से गोमाईजी ने राम कथा के आरम्भ होने से पहले और कथा समाप्त हो जाने के बाद की है । गोतावली और रामचरितमानस दोनों में यही बात दिखाई देती है । इन अवसरों पर गोमाईजी ने लंबे-लंबे माग रूपक बड़ी घूमवाम में बाधे हैं । मानस का रूपक प्रसिद्ध ही है । गोमाईजी की कारीगरी के उदाहरण में एक और रूपक यहां दिया जाता है—

‘मूद मंगलमय संत-समाजू । जो जग जंगम सौरयराजू ॥

राम-भगति जहं सुरसरि-धारा । सरसइ ब्रह्म-बिचार प्रचारा ॥



सर्व-वर्ष ही जाना पड़ता है ।

बग का एक प्रयत्न उद्देय जीवन की व्यवस्था करने हुए उसे सिरी उच्चतम आदर्श में द्वाड़ने का प्रयत्न करता है । मानाभिष्यक्ति में दिनी मरणा होगी उननी ही हम उद्देय में मरणा भी होगी । वो लोग अर्य वो ब्रह्मविद् की भूमि में छिदा रगन ही में अपनी इतराया समझने है उनकी रचनाये मदा के लिए भविष्य की चीज की रहेंगी । वह भविष्य अभी वर्तमान में परिणत न होगा । हाँ, बग की भूमि में भी गूढ़ अभिव्यजनावादियो का अलग ही मातृवदाही कन्द्य बाध दिया जाय नो उनकी रचनाओ को मदा ही योगात की वस्तु समझिए, यद्यपि उग वर्तमान का जनमाधारण ने वनागत न होई

विधि-निषेध-मय कलि-मल-हरनी । करम-कथा रविनंदिनी बरनी ॥  
हरिहर-कथा विराजति बेनी । सुनत सकल मुद मंगल देनी ॥  
बट बिस्वासु अचल निज धर्मा । तीरथराज समाज सुवर्मा ॥  
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा । सेवत सावर समन कतेसा ॥  
अकय अलौकिक तीरथ-राज । देइ सद्य कल प्रगट प्रभाज ॥

सुनि समुसाहि जन मुदित मन, मज्जाहि अति अनुराग ।

लहहि चारि फल अछत तनु, साधु-समाज प्रदाय ॥

गीतादली के अन्त में तो गोसाईंजी ने लंबे-लंबे साग रूपों के नख-शिख ही वर्णन किया है । नख-शिखकार तो नायिकाओं का नख-शिख वर्णन करते हैं, परन्तु गोसाईंजी ने रामचन्द्र का नख-शिख वर्णन किया है । इसमें राम का मुख, उनकी बाहें, हाथ-पांव सभी अंगों का आलंकार माया में वर्णन है ।

गोसाईंजी के अलंकारों के विषय में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि वे जहां परिधम-प्रभव भी हैं वहां भी अवसरानुकूल भावना के उद्गम में सहायक होते हैं और, जैसा पीछे दिखला चुके हैं, रूपाकार का दृक्-चित्रण तो इनके अलंकारों की विशेषता है ही—

‘कंयु कंठ, भुज बिसाल, उरसि तरुन तुलसि भाल,

मंजुल मुक्तावलि जुत जागानि जिय जोहें ।

जनु कालिद मंदिनिमनि इंदनोत्त मित्तर परसि,

धेसति लसति हेम मेनि संकुल अधिकोहें ॥

इस उत्प्रेक्षा में रामचन्द्रजी के शरीर की तुलना नीलम के पहाड़ के, सुन्दरी-माला की यमुना में और मणियों के समान है ही, क्योंकि रूप-रंग उगम है ही, दोनो एक समान ही हैं।

इसी में

के मस्तक

परबत

कला का एक प्रधान उद्देश्य जीवन की सजाया करने हुए उसे  
 निम्नो उच्चतम आदर्श में ढालने का प्रयत्न करना है । भावाभिव्यक्ति  
 में शिवनी मरणा होती होती ही इस उद्देश्य में मरणा भी होगी ।  
 जो लोग अर्थ को वर्तिका की भूमि में छिपा रखने की से अपनी  
 रचनाओं का समझते हैं उनकी रचनाओं का मरणा के लिए भविष्य की पीड़ा  
 बनी रहेगी । वह भविष्य अभी वर्तमान में परिणत न होगा । हाँ, कला  
 की भूमि में भी गूढ़ अभिव्यक्तिवादियों का अलग ही नालुकीदारी  
 मरणा बाध दिया जाय तो उनकी रचनाओं का मरणा ही वर्तमान की  
 वस्तु समझिए, यद्यपि उस वर्तमान का जनजाधारण के वर्तमान में कोई  
 मरणा न होगा । परन्तु गोमार्दजी ने गूढ़ जनजाधारण के वर्तमान  
 को दृष्टि-भय में रख कर लिखा है । उन्होंने जो कुछ कहा है सोधे डग  
 में कहा है । अलवारों की योजना उन्होंने अर्थ को केवल शब्द-गुफन  
 में छिपाने के लिये नहीं बल्कि भाव की ओर भी स्पष्ट अभिव्यक्ति करना  
 के लिये की है । गोमार्दजी की पक्तियों में साधारण प्रत्यक्षार्थ को छोड़  
 कर गूढ़ार्थ की खोज करना बला के उपर्युक्त उद्देश्य का विरोध करना  
 है, जिसने गोमार्दजी को रामचरित लिखने की अत प्रेरणा की थी ।

कला के इसी उद्देश्य ने गोमार्दजी को मरणा का विद्वान् होने पर  
 भी उस देव-वाणी की समझ छोड़ कर जन-वाणी का आश्रय लेने के लिये  
 बाध्य किया था । मरणा, जिसमें अब तक राम-कथा मरणा थी, अब



विधि-निषेध-मय कलि-मल-हरनी । करम-कथा रविनंदिनी बरनी ॥  
हरिहर-कथा बिराजति बेनी । सुनत सकल मुद मंगल बेनी ॥  
बट विस्थातु अचल निज धर्मा । तीरथराज समाज सुकर्मा ॥  
रायहि सुलभ राय दिन राय बेसा । सेवत सावर समन कलेसा ॥  
अफय अलीफिक तीरथ-राज । बेइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥

सुनि समुगाहि जन मुदित मन, मज्जाहि अति अनुराग ।

सहहि चारि फल अछत तनु, साधु-समाज प्रयाग ॥

गीतावली के अन्त में तो गोसाईजी ने लंबे-लंबे साग रूपों में नख-सिख ही वर्णन किया है । नख-सिखकार तो नायिकाओं का नख-सिख वर्णन करते हैं, परंतु गोसाईजी ने रामचंद्र का नख-सिख वर्णन किया है । इसमें राम का मुख, उनकी बाहें, हाथ-पाव सभी अंगों का आलंकारिक भाषा में वर्णन है ।

गोसाईजी के अलंकारों के विषय में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि वे जहां परिश्रम-प्रभव भी हैं वहां भी अवसरानुकूल भावना के उत्पन्न में सहायक होते हैं और, जैसा पीछे दिखला चुके हैं, रूपाकार का यथातथ्य चित्रण तो इनके अलंकारों की विशेषता है ही—

‘कंसु कंठ, भुज बिसाल, उरसि सहन तुलसि माल,

मंजुल मुक्तावलि जुत जागाति जिय जोहें ।

जनु कौलव नंदिनिमनि इंदनील सिखर परसि ,

धैसति लसति हंस सेनि संकुल अधिकोहें ॥’

इस उत्प्रेक्षा में रामचंद्रजी के शरीर की तुलना नीलम के पहाड़ से, तुलसी-माला की यमुना से और मणियों की हस्तों से बहुत उत्तम बनी है, क्योंकि रूप-सादृश्य तो उसमें है ही, अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों एक समान ही हमारी मृदुल भावनाओं के आकर्षक भी हैं—

इसी प्रकार, रामचंद्रजी के भस्तक पर—

‘चाह चंदन मनहुं मरकत सिखर लसत निहार ।’



जन-भाषाएँ की खोज-खान की भाषा न रह कर पंडितों के ही मडल तक बंधी रह गई थी। इसमें रामचरितमानस का आनन्दपूर्ण लान सर्व-भाषाएँ न उठा सकते थे। इसी में गोस्वामीजी की भाषा में रामचरित-निगमन की प्रेरणा हुई, पर पंडित लोगों में उस समय भाषा का आदर न था। भाषा बर्णना की वे हमी उठाने थे।

‘भाषा भनिनि मोरि मति भोरी। हसिय जोग हंस नहि खोरी।’ परन्तु गोसाईंजी ने उनकी हमी की कोई परवाह नहीं की, क्योंकि वे जानते थे कि यही यन्त्रु मानागद है जो उपयोगी भी हो। जो किमी के काम न आवे उगता मृन्म ही क्या ?

✓ ‘का भाषा का संसकिरत प्रेम चाहियनु सांव ।  
काम जो आवइ कामरी का लं करं कमांच ॥’

अतएव उन्होंने भाषा ही में कविता की ओर रामचरित को देश-भर में घर-घर पहुँचाने का उपक्रम किया।

उस समय काव्य की प्रचलित भाषा ब्रज भाषा थी। वैष्णवों ने इसी को अपनाया था। मूरदासजी ने मूर सागर के <sup>सूरसागर</sup> पद इसी भाषा में रचे थे। गोस्वामीजी ने पहले इसी में फुटकर रचना करना आरम्भ किया। उन्होंने गीतावली, विनयपत्रिका और कवितावली का अधिक अंश ब्रज-भाषा में ही लिखा है, परन्तु ब्रज भाषा फुटकर छंदों के ही लिये उपयुक्त थी, उसमें अभी तक कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं लिखे गए थे। अतएव जब वे रामचरित को प्रबन्ध रूप में लिखने बैठे तब उन्हें दूसरी भाषा ढूँढ़ने की आवश्यकता हुई। जब हम देखते हैं कि आगे चल कर जिन-जिन लोगों ने ब्रज भाषा में प्रबन्ध-काव्य लिखने का प्रयत्न किया वे सब असफल रहे तब हमें गोसाईंजी के ब्रज भाषा में प्रबन्ध-काव्य न लिखने के निर्णय का औचित्य जान पड़ता है। ब्रज विलास आदि प्रबन्ध-काव्य कभी जनता में सर्वप्रिय न हुए। अतएव अपने प्रबन्ध-काव्य के लिये गोसाईंजी ने अवधी को ग्रहण किया जिसे प्रेम-मार्गी कहानी-लेखक सूफी कवि कहानियों के लिये भनी-भाति माज चुके थे। अवधि की ओर गोसाईंजी की रुचि के

और भी बागमर में। यह मरुत उनकी बांगी थी और उन प्रात की भी बांगी की बता उनके हस्त का जन्म हुआ था। गोमाईजी ने पहले बार-बार बागमर काव्य अवधी में लिखे जा चुके थे। कोई तीस वर्ष पहले जायसी ने पद्मावन की कहानी लिखकर अपनी प्रेम-मुद्रा बागी का समत्वार दिया था। गोमाईजी ने उन्हीं का अनुसरण किया। जानकी-मंगल, रावली-मंगल, दारु गमायन आदि ग्रंथों की रचना भी उन्होंने अवधी में की।

इस प्रकार गोमाईजी ने दो भाषाओं में कविता की। इन दोनों भाषाओं को मस्तुत की परिपक्व चागनी की पाय देखकर उन्होंने उन्हें अनुत् मिठाम प्रदान की है। इन दोनों भाषाओं पर उनकी रचनाओं से इतना अधिकार दिया है कि जितना स्वयं मूरदासजी का वज्र भाषा पर और जायसी का अवधी पर न था। इन दोनों लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों ने व्याकरण का गला दबा कर शब्दों के ऊपर खूब अत्याचार किया है। परन्तु गोमाईजी ने वज्र भाषा और अवधी दोनों के व्याकरण के नियमों का पूर्ण रूप से निर्वाह किया है। भाषा-सौम्यता तो उनकी रचनाओं में बड़ी मिलती ही नहीं है। एक भी शब्द उनमें ऐसा नहीं मिलता जो भरती का हो। प्रत्येक शब्द पूर्ण भाव-व्यञ्जक होकर अपने अस्तित्व की मप्रयोजनता को प्रकट करता है।

अपने समय की प्रचलित काव्य-भाषाओं ही पर नहीं उस समय तक प्रचलित काव्यशैलियों पर भी उनका प्रभुत्व लक्षित होता है। विषय के अनुकूल उनकी शैली भी बदलती जाती है। गौताबली और विनयपत्रिका में मूरदास की गीत-मञ्जरी का अनुसरण किया गया है। उनमें भारतीय संगीत की भिन्न-भिन्न राग-रागिनियां गृहीत की गई हैं। कवितावली में भाटो की परंपरा के अनुसार फुटकर सबैए और कवित्त बहे गए हैं। जब उनके समय के कवियों को साधारण राजाओं के भोट बनने में लज्जा न आई तब वे अपने सर्वस्व जगदाधिर थी राम की उमरदराजी कहने में क्यों लज्जते? विरदाबली और बीरोत्साहकपिनी दोनों प्रणालियों

को, जिन के लिये गवैण, गनाशरी, और शत्रु मित्रर उद्युता ठहरे हैं, वरिष्ठान्ती में प्रथम मिला है। रामचरितमानस में जादगी के अनु-  
 कल्प पर प्रथम-नाम के अनुकूल दोहे शोभादयी का अनुक्रम रखा गया  
 है। शोभाई और वरुं अशरी के नाम आने छंद हैं। वरुं में भी गोसाई-  
 जी ने रामचरित का संगन रिया है, परन्तु एक स्वान्तर ग्रन्थ में, राम-  
 चरित मानस के अन्तर्गत नहीं। रामचरितमानस में बीच-बीच में विमंगी,  
 हस्तिगीतिरा, गोटक, गायत्रा आदि सब छोटे छंद रखे गए हैं। परन्तु यह  
 यही पर रिया गया है जहाँ पर कथा-प्रवण्य के प्रवाह में कुछ समाव  
 आवश्यक था; जैसे किमी देवता की प्रार्थना में अथवा इसी प्रकार के किसी  
 अन्य अवसर पर, बिन्नु और जगह नहीं। अब रह जाती है नीति-काव्य  
 के रचयिताओं की विदग्ध-वचनावली-गिद्ध प्रणाली जिसके साथ दोहों  
 का कुछ अटूट सम्बन्ध-गा हो गया है। उग पर गोसाईजी ने स्वतंत्र रचना  
 भी की है और उसके लिये यत्र-तत्र प्रवण्य के बीच में भी जगह निकाल  
 ली है। दोहावली और सतगई ऐसे ही पद्यों के समूह हैं, जो कुछ तो मानस  
 आदि ग्रंथों से संग्रहीत हैं और शाय स्वतंत्र रचनाएँ हैं। विलष्ट-कल्पना-  
 जन्य कूट-कविता-शैली को तो हम भूल ही गए थे। परन्तु गोसाईजी उसे  
 भी न भूले। सतसई में उन्होंने ऐसी जटिल रचनाएँ की हैं जिनका अर्थ  
 करने के लिये बड़ी रीचातानी करनी पड़ती है और तब भी अनिश्चय  
 बना ही रहता है। ऐसी रचनाएँ प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती, चाहे वे  
 गोसाईजी की ही रची बयो न हो। हा, गोसाईजी की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा  
 करनी चाहिए कि उन्होंने इस प्रकार की रचनाओं के लिये ऐसे विषय  
 को चुना और इस प्रकार से इस प्रणाली का उपयोग किया कि अर्थ के  
 अनिश्चय में भी अनर्थ की संभावना नहीं रहती। प्रत्येक दोहे में स्पष्ट ही  
किसी की बंदना की गई है। यह भी पाठक जानता है कि राम अथवा  
 राम से सम्बन्ध रखने वाले किसी व्यक्ति की बंदना होगी। कूट से वही  
 नाम निकालने के लिये पाठक को अपना मस्तिष्क लगाना होता है। अब  
 गोसाईजी का अभिप्राय राम की बंदना से था और पाठक ने भरत

## प्रवक्तार धर्म

गोसाईंजी ज्ञान मस्तुति के परम भवत थे । उमकी रक्षा उनके जीवन का सर्वोच्च ध्येय था । रामचन्द्र के द्वारा उन्होंने उसका आदर्श स्वरूप सटा कर दिया है जिसके सहारे हिंदू आन भी बर्ध बना हुआ है । मनुष्य-मनुष्य का ऐसा कोई मवध नही जिसका हमारे लिये गोसाईंजी ने आदर्श न स्थापित कर दिया हो । व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य—गोसाईंजी की देखनी ने सबका सामञ्जस्य-विधान हिंदू मस्तुति

के अनुरूप ही किया है । पाश्चात्य सभ्यता में व्यक्ति का परिवार से, परिवार का समाज से और समाज का राज्य से सधर्प दृष्टिगोचर होता है । परन्तु हमारी सस्कृति के अनुसार इन भिन्न-भिन्न मण्डलों का घेरा यह नहीं है । इसके विपरीत हमारे यहां प्रत्येक बड़ा मण्डल अपने से छोटे मण्डल का क्रमशः विकसित रूप है । व्यक्ति परिवार में, परिवार समाज में और समाज राज्य में विकसित हुआ है । हमारी सभ्यता की

में समाज और राज्य की स्थापना नहीं हुई । रामचरितमानस में इन उत्सर्ग से उत्कर्ष-प्राप्त सस्कृति का सौन्दर्य खूब प्रस्फुटित हुआ है । दशरथ के परिवार का प्रत्येक व्यक्ति सारे परिवार की सुख-शांति के निमित्त अपने-अपने सुखों का त्याग करने के लिये प्रस्तुत है और इस सारे परिवार का त्याग मिल कर समाज और राज्य का कल्याण करता है । कैंकेयी की दुर्मति इसी त्याग के सौन्दर्य को दिखलाने का कारण होकर स्वयं भी धन्य हो गई है । इस परिवार का प्रत्येक व्यक्ति समाज के सामने कोई न कोई आदर्श उपस्थित करता है । दशरथ सत्य-प्रतिज्ञा और पुत्र-प्रेम के, राम पिता-भक्ति के, भरत भ्राता-भक्ति के, लक्ष्मण अपूर्व सहन-शक्ति के, कौशल्या प्रेममयी माता का और सीता पति-वरायण पत्नी का आदर्श है । कैंकेयी भी जगत् के सामने एक आदर्श रंगती है, वह है परचात्ताप का आदर्श । यदि किसी व्यक्ति से अपराध हो जाए तो वह भी कैंकेयी के ऐसा परचात्ताप करके अपने को पावन कर मरना है । पिता-पुत्र का, भाई-भाई का, पति-पत्नी का जो मधुर और आदर्श सम्बन्ध इस परिवार में देखने को मिलता है, उगम उगम का—त्याग का—सौन्दर्य मिल उठा है ।

☐ यह उगम भारतीय सस्कृति की आध्यात्मिकता का चोकर है । व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को परिवार में समाज और समाज में राज्य में

उनकी व्याख्यात्मकता का मूल्य ही ही क्या सकता है ? मंदिरों के बाहर  
 भेद हम देना में था ही नहीं । यदि यह बात होती तो रोम के धर्मविद्वान  
 विद्रोह की भांति हमारे यहां भी दूध-विद्रोह होने । आज-कल दूधों का  
 समाज में जो स्थान है उसमें दूध-विद्रोह प्रचंड रूप धारण किए हुए है ।  
 उसकी प्रचटता मंदिरों की समान्य नहीं है । उनमें रूप ही दूसरा पड़ा  
 है । वह है धर्म-परिवर्तन, जो विद्रोह में भी भयंकर है । विद्रोह एक  
 धर्म की रक्षा का प्रयत्न करना है, परिवर्तन अग-विच्छेद की ओर झुकता  
 है । गोगार्डजी ने जिम समाज की गृष्टि की है उसके आदर्श पर चलने  
 में हम स्थिति का परिहार हो सकता है, क्योंकि उसमें दूधों के ऊपर आज-  
 कल की भांति अन्याय नहीं होता था । गोगार्डजी ने शत्रुओं को मंदिर-  
 प्रवेश का अधिकार दिया है । 'जन-मत भयो दूध तनु पाई', इस प्रकार  
 अपने दूध-जन्म की वधा बहने हुए बाक भुशुडि गरुड से कहते हैं—'एक  
 बार हर-मंदिर जपत रहेउ सिवनाम' ।

उस समाज में दूध ब्राह्मणों से मंत्र-दीक्षा भी पा सकते थे । काक  
 भुशुडि कहते हैं—

‘विप्र एकः खंडिक सिव पूजा । करे सदा तेहि काज न दूजा ॥  
 संभ्र भंत्र मोहि द्विज बर दीन्हा । सुभ उपदेश बिबिध विधि कीन्हा ॥’



है, परन्तु वे नियम के विरोध में खड़े नहीं हो सकते ।

चारों वर्णों में जिस क्रम से भौतिकता का अंश कम और आध्यात्मिकता का अधिक है उसी क्रम से उनको महत्त्व भी अधिक दिया गया है । इसी क्रम से निम्न स्थान वाले का अपने से ऊपर वाले वर्णों के प्रति आदर प्रदर्शन करना कर्तव्य है । ब्राह्मणों को भौतिक सुख का त्याग कर ज्ञान और विद्या की रक्षा तथा वृद्धि करनी पड़ती है । इसीलिये वर्ण-विभाग में उनका सर्वोच्च स्थान है । गोसाईजी ने जटायु से राम के द्वारा इस संवध में जो यह उपदेश दिलाया है—

‘मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर-सेव ।

मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव ॥’

वह इसीलिये है ।

ज्ञान धर्म यद्यपि स्थूल बाहु-बल पर अवलंबित है, परन्तु इस स्थूल बल का प्रदर्शन बिना आत्म-बल के नहीं हो सकता, क्योंकि उस के साथ-साथ प्राण-हानि की आशंका बनी रहती है, बल्कि न्याय-पूर्वक रणभूमि में प्राणोत्सर्ग करना ही क्षत्रिय अपना धर्म समझता है । इसलिये ब्राह्मणों के अनंतर क्षत्रियों का पद आता है । वाणिज्य और सेवा-धर्म में उतने त्याग की आवश्यकता नहीं पड़ती । कम आध्यात्मिकता वाले वर्णों को अधिक आध्यात्मिकता वाले वर्णों के प्रति आदर-वृद्धि रखने का नियम निरर्थक सामाजिक नियम नहीं है । हमारी जातिगत आध्यात्मिकता की रक्षा के लिये यह गर्वया आवश्यक था । बिना उसके कम आध्यात्मिकता वाले वर्णों के लिये आधम-धर्म बेकाम हो जाता, वान-प्रस्थ और मन्वाग्राधम में वे कोई स्थान न उठा सकते । आध्यात्मिकता के लिये इसी आदर-वृद्धि का प्रगट है कि अधिनाधिर भौतिकतामय जीवन बिताने हुए भी वे गर्वया भौतिकता में फँस नहीं जाते और अंत में वानप्रस्थ के द्वारा मन्वाग्राधम में वे ब्राह्मणों के साथ समानता प्राप्त कर सकते हैं । इस दृष्टि में गोसाईजी का यह मत—

‘सायत ताइत पदय रहैता । विप्र पूज्य मत ताईहि संता ॥’

यहाँ पर एक और जटिल समस्या पर विचार कर लेना आवश्यक है। गोमाईजी पर दूधो के साथ-साथ स्त्रियों पर अन्याय करने का अपराध ठापा जाना है। परन्तु जिस व्यक्ति को स्त्री के ही मुख से भगवत्प्रेम की दौंगा मिली हो वह भला कैसे स्त्री-वर्ग के ऊपर अन्याय कर सकता था! 'हम तो चाचा प्रेमरस, पतिनी के उपदेश', यह गोमाईजी ने स्वयं कहा है। गोमाईजी ने उन पर अन्याय किया भी नहीं है। 'जिमि स्वतन्त्र होर दिगर्हि नारी' कहने समय उनका अभिप्राय यह नहीं था कि उन्हें बिना बाध ही दिया जाय, प्रत्युत समाज-शास्त्र की दृष्टि से यह कहकर उन्होंने स्त्रियों के महत्त्व को स्वीकार किया है। एक ही स्त्री माता, पत्नी, बहू आदि कई रूपों में, कई प्रेम-भूतों में परिवार को एक में बाध रखती है। अतएव उमका पारिवारिक विचारों को छोड़कर इधर-उधर की बातों में बहक जाना समाज के बंधनों को ढीला करना है। स्वच्छन्दता केवल स्त्रियों के ही लिये बुरी नहीं है, पुरुषों के लिये भी बुरी है। यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वच्छन्द हो जाय तो स्वतन्त्रता बड़ी नाम को भी न मिले। विशेष अवस्थामों में जब कि सुदृढ़ भाव में आंतरिक प्रेरणा हो रही हो तब सब बाधक बंधनों को तोड़ डालने का अधिकार वे स्त्रियों का भी मानने हें। जो 'राम बैदेही' के विमुख हो उन्हें 'त्यागिय कोटि बैरी समायछपि परम मनेही' यह उपदेश उन्होंने भीगवाई को दिया था। इस प्रकार उन्होंने स्त्री को पुरुष से किसी भी दशा में नीचा स्थान नहीं दिया है। उनकी राक्षसिनी भी धर्म-परायणा, नीति-निपुणा और भक्त है। मदोदरी नीति-निपुणा बिदुसी, पिजटा भक्ति-परायणा और मुलोचना धर्मप्राणा पतिव्रता के उत्कृष्ट उदाहरण है। उनके मद में आदर्श पुरुष पात्र राम ने आनि को, जिसे उनकी ओर से कुछ भी कहा नहीं था, लिपकर मारा और एक दाद कभी पदवाताय का भी उनसे मुह से नहीं निकला। किन्तु बंबदी राम को दण्डात्मक दिखाने के कारण जम-भर अनुशासन में सुन्नी गयी, यद्यपि उगदे पाग अपने काम को करने टटलने का कारण था। अजिदंग के लिये वह समय जाता गया था जब जमान राजधानी में नहीं थी। मान दिन तक अजिदंग की सहायता हो रही थी,

काक भुगुण्डि के साथ एक, और दूसरे विद्यार्थियों के साथ दूसरा व्यवहार न होता था, क्योंकि भुगुण्डि को—

‘विप्र पड़ाव पुत्र की नाई,

भूत के भाव का उस समाज में सर्वथा अभाव है। गुह जब राम के जाने का समाचार पाकर उनके दर्शनार्थ आता है तो राम उसे नीच जाति का समझ कर ही से नहीं मिलते हैं, पास बिठला कर उससे कुशल प्रश्न करते हैं—

‘पूछी कुशल निकट बैठाई ।’

गुह का आतिथ्य राम ने इसलिये नहीं अस्वीकार किया कि वह नीच जाति का था परंतु इसलिये कि ऐसा करने से पिता की वनवास की आज्ञा का भंग होता। ऊँच और नीच के बीच का सबसे मृदुल उदाहरण विप्रकूट में वसिष्ठ-निषाद-मिलन है—

‘प्रेम पुलकि केवट कहि नामू । कीन्ह दूरि तें बंड प्रनामू ।

राम-सखा श्रयि बरबस भेटा । जनु महि लुटत सनेह समेटा ॥

यदि केवट विनय का अवतार है तो वसिष्ठ स्नेह के। स्वयं गोसाईजी ने अयोध्या के एक चुहड़े (मेहतर) को प्रेम-विवश होकर आलिंगन किया था।

हां, गोसाईजी को अवश्य ही वर्ण-व्यवस्था का अतिक्रमण असह्य था। वे यह नहीं देख सकते थे कि शूद्र (‘बैठि बरासन कहहि पुराना’) व्यास गद्दी पर बैठ कर कथा बाँचा करें या जनेऊ देते फिरें। ह, उनके ऋम-विभाग के बाहर की बातें हैं। तुलसीदासजी का आदर्श समाज वह है जिसमें लोग प्रेम-बंधन में बंध कर वर्णाश्रम-धर्म का पालन करते हुए अपने-अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहें। गोसाईजी का विश्वास है कि ऐसे समाज में अवश्य सुख-शांति का साम्राज्य होगा। उसमें कभी रोग, शोक और मय नहीं व्याप सकेंगे, क्योंकि ये मानसिक अवस्थाएँ मात्र हैं जो केवल उलटी जीवन-पद्धति के फल हैं—

‘वर्णाश्रम निज निज धरम, निरत बंद पय लोंग ।

चलहि सदा पावहि सुखहि, नहि भय शोक न रोग ॥’

[illegible]

परन्तु गौरी के पानों का गहरा न गर्द । गोगाईजी पर स्त्रियों पर अन्याय करने का दोषारोपण करना स्वयं गोगाईजी के भाव अन्याय करना है । पारंगत में स्त्री के ऊपर ऐसा अन्याय जो अप्रतिपाद्य हो उनमें देखने का बनता था । राम ने द्वारा गीता का अन्तर्गण त्याग उन्हें नहीं रखा । पर उन्होंने उगते परिहार का प्रयत्न किया । अष्टात्मरामायण के अनुसार पर गौरीयली में उन्होंने राम ने अपने पिता की आपु भोगवाई जिन्हीं गीता के त्याग के लिये शील का अनुरोध भी एक कारण हुआ । अपने पिता की आपु भोगने हुए भी गीता का महत्वाग राम के लिये अनुचित होता । परन्तु हमने भी गोगाईजी को शांति न मिली । अपने रामचरितमानस में जगमें उन्होंने लोकायमं का विप्र तांका है, राम को सीता पर यह अन्याय करने में बचाने के लिये लला-विषय के अनन्तर अपोघ्या में राम के अभिप्रे पर ही उन्होंने रामायण की कथा समाप्त कर डाली है ।

स्त्री की जो कही-कही उन्होंने निन्दा की है, वह वास्तव में स्त्री न होकर स्त्री-पुरुष के कामुक सबध की है । दोनों वर्गों के परस्पर सपके में यह एक ऐसी निरालता का स्थल है, जिसके सबध में सतक रहने का उपदेश देना गोगाईजी अपना कर्तव्य समझते थे । तुलसीदासजी जिस वेद-विहित व्याप्तक धर्म के प्रतिपादक हैं उनमें पत्नी का महत्त्व पति से कम नहीं है । पति यदि स्वामी है तो पत्नी भी स्वामिनी है । स्वामी और दासी में सेव्य-सेविका का सबध भले ही हो जाय किन्तु वे परस्पर प्रेमी नहीं हो सकते । प्रेम उस चंचल भाव का भी नाम नहीं है जो मुह से—

‘अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।’

कहने वाले अर्जुन को जहाँ कही पहुँचे वही जैसे बन पड़े ब्याह पर ब्याह करने को बाध्य करता था । बहुविवाह से समाज को जो हानि हो सकती है वह कैकेयी के सामने दशरथ की परवशता तथा उस अन्याय में प्रकट है जो दशरथ को राम पर करना पड़ा । जैसे पत्नी के लिये पतिव्रता होना धर्म है वैसे ही पति के लिये भी एक-पत्नी-व्रत रहना परम धर्म है । कुल स्त्रियों का प्रदूषित होना पुरुषों के प्रदूषित होने न होने पर निर्भर है । स्त्रियों

'प्रवर्त्तमानं गणानिर्वृत्तं सदा न मन्तां मन्यमानवृत्ततः ॥'  
 क्योंकि हम सहासरावर्षी गणों का दमन करने हुए चलने हैं। शासन-  
 प्रणाली में जहाँ प्रजा की सुव्यवस्था का ध्यान रखा जाता है, वहाँ इस  
 दिव्यशासन के लिये राजा के पास संन्यासियों के साथ-साथ अर्थ-शक्ति  
 भी चाहिए। यह अर्थ-शक्ति कर के ही द्वारा आ सकती है। परन्तु इस  
 दान का ध्यान रखना चाहिए कि कर देना प्रजा को खटकें नहीं। इस  
 विषय में सूर्य का उदाहरण मोरदासीनी राजाओं के समुख रखने हैं। सूर्य  
 दिन समय और बैसे पानी को पृथ्वी से खींच लेता है, यह कोई नहीं देख  
 पाता, किन्तु उसका वर्षा ऋतु में बराबर सृष्टि के लाभ के लिये बरसना  
 सब देखते हैं।

'वरपत हरपत जोग सब, करतत लखन ग फौड ।

ब्रह्मी भक्ति भल सम, प्रजा-भाग्य-दत होइ ॥'

गोसाईजी भी इस बात को जानते थे कि राजा में तितिक्षा और दार्शनिक मनोवृत्ति आवश्यक गुण हैं। जो इन गुणों से विहीन होते हैं वे राजसक्ति का दुष्प्रयोग करने लगते हैं—

‘सहस्रबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू ॥’

कुछ तो हमारे यहा द्वाहचर्याश्रम के नियम ही ऐसे हैं कि उनके अनुसार शिक्षा-दीक्षा से राजकुमारों की मनोवृत्ति कुछ दार्शनिक और उत्सर्गमयी हो जाती है। उसके अनन्तर भी राजाओं को विरक्त ऋषि-मुनियों की अनुमति के अनुसार कार्य करना पड़ता था। डाक्टर भगवानदास अपनी स्वराज्य-प्रोजेक्ता में व्यवस्थापकों में विरक्त सन्यासियों को रखकर प्रजा-सत्तात्मक प्रगाली में इसी दार्शनिक तथा उत्सर्ग-मूलक तत्व को ले आने का प्रयत्न कर रहे हैं। रामचरितमानस में अयोध्या में हम गुह बसिष्ठ की अनुमति के अनुसूल राज्य-शासन का गचालन देखते हैं। साय-साय अमात्य और मन्त्रियों की मन्त्रणा की तो सहायता लेनी ही पड़ती है। ये मन्त्रिगण भी निबडक बोलनेवाले होने चाहिए, क्योंकि—

‘सचिव चैद्य गुह तीन जो, प्रिय बोलहि भय आस।

राज धरम तनु तीन बार, होहि चैद्य ही नास ॥’

राम में हमें ठीक एक दार्शनिक तितिक्षु राजा के दर्शन होते हैं जिसकी तितिक्षा कर्तव्य की विरोधिनी नहीं है। इसीलिये उनके राज्य में राज-नीति की परमावधि देखने को मिलती है—

‘राम-राज सुनियत राजनीति को अग्रधि

मान राम। रावरेती चाग की चलाइही।’

इसीलिये—

‘देहिक देविक भीतिक तापा। राम-राज नहि काहुहि ब्यापा ॥

सब तर करहि परस्पर प्रीती। चलहि श्रवर्म निरत सुनि नीती ॥

चारिउ धरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु बध नाहीं ॥

नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। \*हि कोउ अग्र मल छन-हीना ॥’

आजकल की ————— में व्यक्तिगत जीवन और सार्व-





## भारत आलोचना

ही इस रीति से फर उगाहना चाहिए कि प्रजा को उ  
न पढ़ें—यह आत्मन्य का 'इन्डाइरेक्ट टैक्सेशन' है—  
१. रूप में आए हुए इस धन को राजा अपने बिलाम में नहीं  
प्रजा की ही गल्ले के लिये प्रचट रूप में व्यय करे। निम्नोह  
शासन-प्रणाली में प्रजा निगान संतुष्ट रहेगी, जैसा कि हम राम-  
में देखते हैं। बरोहि—

‘सुत्रम् प्रजाहितं लेहि सामादिकं करं धनुमान ।’

भोज्य पदार्थों का ग्रहण ही मुग करता है, निम्न पुष्ट होने  
शरीर के सब अंग । राज्य-रूप शरीर का मुह रग है । उसे भी प्रजा  
विभिन्न अंगों के पोषण के लिये ही कर-रूप भोजन लेना चाहिए—

‘मृत्तिमा भुक्ष सौं चाहिए तान-वान सौं एरु ।

पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक ॥’

इन सब बातों का जहा पालन हो वह राम-राज्य है, जि  
गोसाईजी ने एकत्र के साथ प्रजातंत्र का समन्वय किया है और सुरा  
के साथ स्वराज्य का । इसी से वह हिन्दू-जाति के स्मृतिपटल पर अ  
रूप से व्यक्ति हो गया है ।

केदाव के समय तक ससृष्ट में साहित्य-शास्त्र का पूर्ण विकास हो  
 चुका था। विद्वानों के अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे अलंकार-सम्प्रदाय,  
 वक्त्रोक्ति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय, इत्यादि सभी ने अनेक  
 तर्कों के उपरान्त यह निश्चय कर लिया था कि ऋष्य में सारभूत अन्तरण  
 वस्तु रस है और अलंकार, रीति और ध्वनि अपनी शक्ति के अनुसार उसके  
 महायक हैं, विरोधी नहीं; तथा इन सभी वस्तुओं की कव्य में आवश्यकता  
 होती है। पीछे के लोग कवि-शिक्षा के ऊपर भी लिखने लगे। केदाव ने  
 अपनी विशेष परिस्थिति के कारण अलंकार सम्प्रदाय को महत्व दिया है  
 किन्तु उन्होंने रस-सम्प्रदाय की भी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने अपनी रसिक-  
 प्रिया में रसों का स्वरूपानुरूप वर्णन किया है और सब रसों को शृंगार के  
 अन्तर्गत रखने का प्रयत्न किया है यद्यपि उसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं

(यद्यपि वीरसिंहजी का चरित प्रशंसनीय भी था ) केशव ने अपनी स्वामि-मवित के गौरव के विरुद्ध कार्य किया ।

केशव के ग्रन्थः—( १ ) रसिक-प्रिया (संवत् १६४२) इसमें रस-निरूपण विशेषकर शृंगार रस और नायिका भेद है । ( २ ) रामचन्द्रिका (कार्तिक-सुदी १६५२) । ( ३ ) कवि-प्रिया (फागुन सुदी पचमी संवत् १६५२) इसमें कवि के वष्य विषयों तथा अलंकारों का वर्णन है । यह एक प्रकार से कवि-शिक्षा का ग्रन्थ है । ( ४ ) विज्ञान-गीता (यह ग्रन्थ प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की रीति पर लिखा गया है) इनके दो ग्रन्थ और हैं—जहाँगीर-जश-चन्द्रिका और वीरसिंहदेव-चरित ।

केशव का दृष्टिकोण—हिन्दी साहित्य में जिन कवियों के ऊपर आलोचकों के अंकुश का नियत प्रहार होता रहता है उनमें से केशव भी एक प्रसिद्ध व्यक्ति है । इसमें सन्देह नहीं कि अनेक आलोचकों ने आपके नाना छन्द-विधान, सफल-संवाद, अपूर्व अलंकारिक चमत्कार तथा ओष गुण आदि की प्रशंसा की है किन्तु अधिकतर लोग इनके कवित्व को सुपात्र नहीं समझते रहे हैं । किसी ने इनको 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा है तो किसी ने 'हृदय हीन', किसी ने इनके काव्य को 'छन्दों का अजायबघर' कहा है तो किसी ने 'कवि को दैन न चाहें विदाई, पूछें केशव की कविताई' कहकर अपनी सम्मति प्रकट की है । इस सम्बन्ध में यह समझ लेना आवश्यक है कि ये सभी आलोचनाएँ कवि के दृष्टिकोण को न गमज सजने के कारण हुई हैं, अस्तु सर्वप्रथम हम इसी पर विचार करते हैं ।

यह हमारा सौभाग्य ही है कि केशव ने स्वयं अपने और अपनी कविता के विषय में अपने ग्रन्थों के आरम्भ में थोड़ा-बहुत कह-मुन दिया है । केशव के जीवन-वृत्त से प्रकट होता है कि वे एक परम संस्कृत कुटुम्ब की सन्तान थे और उनको अपनी कुलीनता पर बड़ा अभिमान था । वे भाषा में कविता करने को अपनी हीनता समझते थे; फलस्वरूप उन्होंने स्वयं भी इस बात का प्रयत्न किया है कि उनकी कविता में उनका मरुत का ज्ञान छिपा न रहे और वे अपनी कुल की प्रतिष्ठा को यथापूर्व बनाये रखें । मरुत का एक



नमिली है।

• केशव ने 'अलंकार' शब्द का प्रयोग एक विलक्षण और विस्तृत अर्थ में किया है। वे 'अलंकार' के तीन भेद करते हैं—वर्णालंकार, वर्णालंकार तथा विशेषालंकार। वर्णन के सम्पूर्ण विषयों को दो भागों में बाटा गया है। एक तो काव्य के भिन्न-भिन्न रंग और दूसरे शेष वर्णनीय विषय, प्रपञ्च को वर्णालंकार तथा दूसरे को वर्णालंकार कहा गया है। शास्त्रीय शब्द अलंकार के लिए उन्होंने 'विशेषालंकार' शब्द का प्रयोग किया है।

विशेषालंकारों का काव्यालंकारों के विषय में केशव दही और स्मृत मा अनुकरण करते हैं। रस को अलंकारों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, वह स्वयं 'रसवत्' अलंकार बन गया। केशव ने उपमा के २२ भेद किये हैं और श्लेष के १३। कई अलंकार—जैसे प्रेमालंकार तथा ऊर्जालंकार तो केवल सस्या बढ़ाने वाले ही हैं।

• जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं 'रमिक-प्रिया' में भी सूक्ष्मभेद-विधान की प्रवृत्ति है। रम, नायिकाभेद, वृत्ति आदि का परम्परायुक्त वर्णन है। भविष्यो, चित्रिणी आदि स्त्रियों के अनावश्यक भेद किये गये हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि केशव के ग्रन्थों में अलंकारों का बहुत शक्तिमान् प्रयत्न निहित है। कुछ विद्वानों ने केशव को रीतिकाल का प्रवर्तक न मान कर भक्ति-काल के पट्टकर कवियों में स्थान दिया है किन्तु हम उनके सहमत नहीं। यद्यपि यह सत्य है कि रीतिकाल की सम्बद्ध धारा केशव से कुछ वर्ष उपरान्त एक भिन्न आदर्श को लेकर चली और यह भी सत्य है कि केशव से पहले भी गार्हित्य-शास्त्र के ऊपर लेखनो उठाने वाले कई कवि पाये जाते हैं, फिर भी जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, अन्य पूर्ववर्ती हिन्दी आचार्यों की अपेक्षा केशव का प्रयत्न गम्भीर तथा विस्तृत है। जहाँ तक आदर्शों का सम्बन्ध है केशव अनेक कवियों से भिन्न अवश्य है। यह साम्प्रदायिक भेदमात्र है; हमने उनके स्थान पर कोई आंच नहीं आती। आपास के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह रंग-सम्प्रदाय को ही मानें। केशव की रमिक-प्रिया को देता हूँ कोई यह भी नहीं कह सकता कि वे रंग-सम्प्रदाय के विरोधी हैं।

बनने पानिपत के बरान पंगव में लीय का घना गुन्दर तथा गहन  
 प्रयोग किया है किन्तु बली-बली यह प्रकृति केवल होने लगी शब्द-गाम्य  
 का बाजार लेकर जगन्नाथों पर टिनी रहती है कि भार को निर्जीव कर देती  
 है। 'घाय' वृक्ष का भी नाम है और जगन्नाथ को भी कहते हैं, केसर ने  
 प्रसन्न-गिरि का वर्णन करते हुए दम घन्य का प्रयोग दम प्रकार किया है—

‘गिरु तो रत्न रांग घाय’

पहाड़ को शोभा उगरी मरता में है, शिशुता में नहीं। इसी प्रकार ‘शिव’  
 के दो अर्थ हैं—शर्वती और गोदली, इन दोनों का एक साथ ध्यान में आना  
 शिवता हान्धारद हो जाता है। उगी पर्वत के सम्बन्ध में वेशव कहते हैं—

‘संग शिवा विराजें, गजमुख गाजें,  
 परभूत शोलं, चित्त हरें ।’

परिनिस्त्या अलंकार में वेशव का यह पादित्य सूत्र निखर आया है।  
 ‘विधवा बनी न नारि’ में ‘विधवा’ शब्द का श्लेष भी बुरा नहीं है, किन्तु  
 निम्नलिखित छन्द तो अद्वितीय है—

‘मूलन ही को जहाँ अधोगति वेशव गाइय ।  
 होम हुतासन घूम नगर एकै मलिताइय ॥’

नीचे के उदाहरण में ‘विरोधाभास’ का शाब्दिक चमत्कार यदि दुरुह  
 न हो (विष का अर्थ जल जान लेने में यह दुरुहता दूर हो जाती है) तो  
 परम रमणीय मालूम पड़ता है—

‘विषमय यह गोदावरी अमृत को फल देत’

किन्तु अलंकार का चमत्कार दिखाने के लिए भी श्रीरामचन्द्र जी को  
 परदारप्रिय कहने में पाप लगता है—

‘परदार-प्रिय साधु मन दप बाध के’

परदार शब्द लरमी और पृथ्वी तथा दूधरी स्त्री को भी कहते हैं।  
 विरोधाभास दूसरे की स्त्री अर्थ लाने में ही ठीक बैठता है। ‘मंदेश’ अन्वय  
 की बल्यता में वेशव बड़ी-बड़ी बहक भी आते हैं—

जिगमै स्वभाव-ज्ञान पर कन्देयगडो आदि के शब्द भी पाये जाते हैं। 'माहिषास' शब्द के बहने में हमारा साक्ष्य यह है कि उनमें जो सौन्दर्य है वह न तो मूल की भाषा के समान व्यवसाय के स्वाभाविक स्वभाव का है और न विदेशी की भाषा के समान साधु का। पाणिनीय-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण केवल की भाषा मरुतावतुंग हो गई है; उगमों ऐसे मरुत शब्द देगने में आते हैं जिन्हें मरुत का संज्ञित ही समझ लेंगे। मूल के अर्थ में 'मिष' शब्द, अग्नि के अर्थ में 'हतागत' शब्द, मषया (इन्द्र), मिषा (गोदरी), मरोनागला (लक्ष्मी) मिष (जन्म) शब्दों का प्रयोग हिन्दी-भाषाओं को बर्बरता लगी है। इनका प्रचार कन्देयगडो शब्द गोरमरायण भी प्राचीन होने के कारण पुष्ट है।

२ धनु है यह गोर मदायन नाहों

केवल की भाषा प्रायः व्याकरण की दृष्टि में भी शुद्ध है। वही-वही धनु-मरुति होना है भी जो तुवांत आदि के निमित्त ही जान होता है। जिग-दोष का और क्या कारण होगा?—

२ 'पीछे मषया मोहि साप दई'

'साप' शब्द पुनिग है दग हेतु 'दई' के स्थान पर 'दयो' होना चाहिए। इसी भांति:—

'अंगद रक्षा रघुपति कीन्हो'

म 'कीन्हो' के स्थान पर 'कीन्हीं' होना चाहिए।

अलंकार:—केसवदास अलंकारवादी थे और उन्होंने 'कवि-प्रिया' में स्पष्ट कह दिया है कि—

'भूयन धिनु न राजई कविता-धनिता-मित'

अतः यह स्वाभाविक ही था कि वह चमत्कार का साधन बाह्य अलंकारों को ही बनाते। अलंकार कोई बुरी वस्तु नहीं होती किन्तु वह अनुचित प्रयोग से स्वाभाविक सौन्दर्य को भी छिपा सकती है। अत्यधिक अलंकार भी कभी-कभी शरीर पर भार-स्वरूप जान पड़ते हैं।

केसर के रूपक बड़े ही चमत्कारपूर्ण हैं:—

शोक की आग लगी परिपूरण

आइ ऐसे घनरसाम विहाने ।

आनक के जनकादिक के सत्र

फूल उठे तब पुष्प पुराने ॥

इसमें घनरसाम पर श्लेष भी अति सुन्दर और सार्थक है ।

‘अनहृति’ भी समयानुबूल है—

भट, चातर दातुर मोर न बोले ।

वर्षा सुना ॥

घरला घगक न, फिर संग सोने ॥

चमत्कार ॥  
दुतिप्रस्तन कहों विपदा यह कौनहीं ।

१६० घरनो यह चन्द्रवधू परि दोन्हीं ॥ १६१ ॥

अन्तिम दो पंक्तियों में दुतिप्रस्तन की दुर्गति में अपनी ओर और चन्द्रवधू द्वारा सीता की ओर इंगारा किया है ।

इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक यद्यपि केसर में चमत्कार ही चमत्कार हैं (अतः अलंकार कही-वही भड़े भी लगने लगते हैं) किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अलंकारो पर अमाधारण अधिकार नहीं है । परिसंख्या आदि के उदाहरण तो इनके समान कोई लिख ही न सका । कही-वही यह सुन्दर तुलनात्मक विरोध भी बड़े स्वाभाविक रूप से आये हैं—

गिन्यु तरघो उनको बनरा तुमपे घनु रेल गई न तरी ।

बाँदर बाँधत तो न बाँध्यो, उन बारिधि बाँधि के बाट करी ॥

शब्दालंकारो तथा अर्थालंकारो की पूर्ण भरमार इनके आचार्यत्व की परिचायिका है । (विशेष ज्ञान के लिए देखिए ‘साहित्य सन्देश’ जुलाई १९४५ में हमारा निबन्ध ‘केसर की अलंकार-योजना’) ।

संवाद:—जिन समालोचकों ने केसर की कविता में केवल दोष ही ढाँप देखे हैं उनको भी यह स्वीकार करना पड़ा है कि केसर के ने सशब्द हिन्दी का कोई भी दूसरा कवि नहीं लिख सका है । उनके संवादों में कई अने गुण हैं । एक तो यह है कि कवि ने अपने संवादों में पात्र-निर्देश को बाध्य



‘अरुण गान क्षति प्रातः पद्मिनी-प्रागनाथ भय ।

शान्ति केन्द्रपदात्त कोकनद कोक प्रेम मय ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥  
पतिपूरण तिनूरपूर कैंधों मंगल घट ।

रिपों शक को छत्र मद्भयो मानिक-ममूष पट ॥’

यहां तक तो अत्यन्त गुन और मंगलमय वर्णन है, किन्तु—

‘कं शोणित कलित कपात्त यह

रित्त कपात्तिक काल को ।’

के कहते ही जुनुग्या उताप हो जाती है (विशेषकर मंगल अवसर पर)  
इसके पदनाल—

यह कलित काल कैंधों सतत

दिगभामिनी के भाल को ।

को जोड़कर कवि ने फिर दिगम्बरी बात बना ली है । दोनों पक्तियों को एक साथ पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है मानो टूटे इसके पर बैठ कर सड़क का एक दृष्टा पार किया हो ।

उपमानों की रोज में भी केशव ने कोई-कोई भूल की है । रामचन्द्र को उल्लूक के समान गुण वाला कहना—

यातर की सम्पदा उल्लूक ज्यों चितवत ।

यद्यपि शुद्ध साहित्यिक को ग्रह्य हो जायेगा तथापि भक्तों को अवश्य सटकेगा । इसी भाति—

पांडव की प्रतिमा सम लेखी ।

अर्जुन भीम महामति देखी ॥

में शब्द साम्य की विडम्बना लाला भगवानदीन जैसे केशव के भक्तों को भी सटकती है । रामचन्द्रजी के मुख से पाण्डवों का उल्लेख कराना काल-विषद दूषण है (यह दोष रामचन्द्रजी को त्रिकाक्ष मान लेने में भी बना रहता है क्योंकि वे नर-लीला कर रहे थे) । अस्तु, कुछ उपमाएं अपूर्व बन पड़ी हैं—

लोक तो लिखत नभ पाहन के अंक तो ।

में तेज गति की उपमा वास्तव में अद्वितीय है ।



जो सब को ब्रह्म-सन्तान के रूप में मानने के लिये सिद्ध है। यही  
कही को सब को ब्रह्म ही मानना चाहते हैं। यह बात कुछ साफ़ है  
क्योंकि सब को ब्रह्म ही मानने का एक सिद्धांत है।

इससे सिद्ध है कि सब को ब्रह्म ही मानने का निमित्त पूर्णतः है।  
क्योंकि सब को ब्रह्म ही मानने का निमित्त पूर्णतः है। यह बात  
का सब को ब्रह्म ही मानने का निमित्त पूर्णतः है। यह बात  
सिद्धांत के लिये सब को ब्रह्म ही मानने का निमित्त पूर्णतः है।  
यही सिद्धांत है।

इस सब को ब्रह्म ही मानने का निमित्त पूर्णतः है। यह बात  
सिद्धांत के लिये सब को ब्रह्म ही मानने का निमित्त पूर्णतः है।  
यही सिद्धांत है।

यह सब को ब्रह्म ही मानने ।

यह सब को ब्रह्म ही मानने ॥

यह सब को ब्रह्म ? न मानने ।

यह सब को ब्रह्म ही मानने ॥

इससे सिद्ध है कि सब को ब्रह्म ही मानने का निमित्त पूर्णतः है। यह बात  
सिद्धांत के लिये सब को ब्रह्म ही मानने का निमित्त पूर्णतः है।  
यही सिद्धांत है।

प्रकृति-विवरण—वेदाङ्ग में प्रकृति का संक्षिप्त विवरण नहीं साँचा,  
यह वेदाङ्ग अथर्ववेद स्थानों में मिलती मिलने तक ही रह गये हैं। साधारण  
वर्णनों का साधित होने से प्रकृति-विवरण का भी आधिक्य हो गया है किन्तु  
उसमें वेदाङ्ग की वृत्ति समीचीन नहीं जान पड़ती।

वेदाङ्ग का जो ने प्रकृति के वर्णन में देवा-विरुद्ध रूप भी काफ़ी किये  
हैं। विद्वान्मित्र के तपोवन के वर्णन में एला, लवंग और पुंगीफल का वर्णन  
रिदा है जो बिहार में नहीं होते।

एला ललित लवंग संग पुंगीफल ।

इसी प्रकार हनुमान्जी का सीताजी से रामचन्द्रजी का विरह-वर्णन



धन तेज हरं गिरावो बहि बेराव,

बंघन बाह दृगंघन तों ॥

गीते के वर्णन में मर्दाना तुलसीदासजी की मर्दाना परत भाव-मुकुमाखा गयी है (क्योंकि तुलसीदासजी की गीता रामचन्द्र पद-अंकों को बचाकर पड़ी है) गणानि शृंगार की दृष्टि में यह गीता काफ़ी गरम है, देखिए—

‘भारण की रज तागिन है मरि, बेराव सोनह सोनल सागति ।

प्यो पद-नरक ऊपर पापनि, बं नु धनं तेहि ते गुनवापिनी ॥’

बेरावदासजी ने गीता और राम के वियोग का अच्छा वर्णन किया है किन्तु यह परम्परा-भूत हो गया है । गीताजी की निम्नोत्प्लवित उक्ति उनके हृदय की बेरनामयी चिन्ता का परिचय देती है—

‘धो पुर में, धन मय्य हों, तू मग करी अनौति ।

बहि भुदरी भय तिमनि को को करिहं परतीति ॥’

श्री (तुलसीदासजी) ने तो उनकी नगर में त्याग दिया, मने वन में त्याग दिया और तूने उन्हें रास्ते में त्याग दिया । हे मुद्रिके ! अब स्त्रियों का कौन पेशवाग करेगा ? इसमें राम के अवलोकन की व्यथना है ।

इसपुन की सीरणा सम्बन्धी कुछ गवोक्तिमां बड़ी मार्मिक हैं—

कातु बात बड़ी न कहों मुख पोर,

दोरी

सब सों न जूरो सबनासुर भोरे ॥

द्विज-बोपन ही बल साहि संहारघो ॥

मरही जु रहो मु कहा तुम भारघो ॥

यद्यपि केशव के लिए यह कहा जाता है कि वे कुरुणा के दूरियों के वर्णन अधिक सफल नहीं हुए तथापि वास्तव में बात ऐसी नहीं है । उन्होंने कुरुणा के स्थलो को अधिक विस्तार नहीं दिया है किन्तु जहां कुरुणा का वर्णन किया है वहां यह बड़ा मार्मिक है । वात्मल्य-सम्बन्धी कुरुणा का निम्नोत्प्लवित रूप बड़ा हृदयस्पर्शी है—विश्वामित्र जब रामचन्द्रजी को अपने साथ ले जाते हैं उस समय का वर्णन केशव की सहृदयता का परिचायक है । देखिए—



‘यह यात भरत्य को मातु सुनो ।  
 पठऊं बन रामहि बुद्धि गुनो ।  
 सेहि मंदिर मों नृप सों बिनयो ।  
 घर देहु हृतो हमको जु दियो ।  
 नृप यात कहो हंसि हेरि हियो ।  
 घर मांगि सुलोचनि में जु दियो ।’

मंमरा को इस दृश्य से बाहर रसाने के कारण सारा उत्तरात्मिका  
 कैकेयी पर ही आ जाता है । अस्तु ।

यनगमन समय रामचन्द्रजी द्वारा माना कौसल्या को वैश्य वर्ग  
 का उपदेश दिलाना अप्रासंगिक-सा हो जाता है । घटना के पूर्व ही ऐसी  
 अनुभूति उत्पन्न करने का उत्तरात्मिका ही कहा जा सकता है । वे  
 रामचन्द्रजी को भविष्य का ज्ञान पाहे हो किन्तु अगार के पूर्व एतद्  
 अनुभूति का ओर सनेत अनुचित था, विशेषकर पुत्र के मृग से । पत्नी  
 तो कौसल्या जैसी सती साध्वी के लिए यह धर्म-सा था किन्तु यदि उत्तरा  
 आदर्शता ही थी तो उसके अधिकारी गुरु ब्रह्मचारी थे और वह वे  
 मृग्य के परमात्मा ही; किन्तु केसर ने मृत्यु के परमात्मा तो त्रिगी में दो हस्त  
 भी नहीं बढ़ाये ।

बल रंघ कोरि जीव यो मिल्यो जूगोठ जाय ।

मेह दूरि क्यों बजोर चाट में मिले उजाय ॥

(सुग्रीव-सुग्रीव-सुग्रीव । मेह-सुग्रीव)

इसके अलावा ही रामचन्द्रजी की यागमय को सोभा का वर्णन हो  
 जाता है । एक प्रसंग में सुग्रीव प्रसंग तक आने में कुछ तारतम्य बना  
 हुआ केसर में लिखा गया है । केसर को प्रसंग विरहित की ओर  
 सुग्रीवों की अतिरिक्त विचार है उपाय के करने का ही वास्तविकता का भी  
 ज्ञान ही बनने । अतः कि ॥ इत्यादि के सुग्रीव की वास्तविकता से ही  
 उत्तरात्मिका सुग्रीव बनती है वह केसर में सुग्रीवों के ही बनने है अतः

की नियों के योग्य नहीं। (इस सम्बन्ध में बेशवदासजी की कमजोरी का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं।)

‘घातों मृग अंक कहें तो तों भुगर्ननी सख,  
 यह सुधापर तुहं सुधापर मानिये।  
 यह द्विराज, तेरे द्विजराजि राजे,  
 यह कलानिधि तुहं कलाकलित बखानिये॥’

(मृग अंक—मृग है गोद में जिसके, चन्द्रमा का पर्याय है। चन्द्रमा के पक्ष में सुधापर सुधा को धारण करने वाला अर्थ लगेगा, ‘सुधा है, जिसके पक्ष में’ यह अर्थ सीता के पक्ष में लगेगा। द्विजराज-चन्द्रमा को द्विजराज होने है क्योंकि उसका दो बार जन्म हुआ था। सीता के पक्ष में—द्विजराज=दातो की पत्नी। द्विज दात को भी कहते हैं क्योंकि उसका दो बार जन्म होता है। चन्द्रमा कलानिधि है और सीता कलाविद् है।)

बेशवदामजी भरतजी के चित्रकूट-भगमन के प्रसंग में गृह का वर्णन करते हैं: ‘तरि गंग गये गृह संग गये’ किन्तु इसका वर्णन कहीं नहीं आता।

उत्तराढ़ की कथा में विशेषकर अद्यमेघ यज्ञ तथा सवकुरा के साथ उद्ध के वर्णन में प्रबन्ध-निर्वाह अच्छा हुआ है। उत्तराढ़ में भी कहीं-कहीं वर्णन में उन्होंने मर्यादा का ध्यान नहीं रखा है। दासियों के नखशिख के वर्णन में चाहे सीताजी की अलौकिक सुन्दरता की शीघ्र ध्वजना हो किन्तु यह वर्णन रामचन्द्रजी की मर्यादा के विरुद्ध है। बेशवदामजी ने हमको दासियों के बिल्वरे हुए मोती हो अधिक दिये। उनमें सारसमय सूत्र का अपेक्षाकृत अभाव सा ही मिलता है।

परिचित्र चित्रण—बेशवदासजी का परिचित्र-चित्रण इतना सशोभ नहीं है जितना उनका प्रबन्ध-निर्वाह। रामचन्द्रजी के शील और उनकी धर्म-भरायणता का हमको शुरू से ही परिचय मिल जाना है। गङ्गा-वध के समय उन्होंने विश्वामित्र से पर्याप्त तर्क किया है। बेशव के समय इस अपराध से मुक्त रहने हैं। रावण-बाणाशुर-वार्तालाप प्रबन्ध की



### मावसां आलोचना

दृष्टि से निरयंक हो किन्तु उसमें रावण के चरित्र पर अच्छा प्रकाश प  
है। केशव के चरित्र-चित्रण का कौशल उस समय मालूम होता है जब  
लक्ष्मणजी की मूर्छा छूटने पर वे उनसे पहली बात यही कहलाते हैं—'त  
न जीवत जाय धरं।'

केशवदासजी को यदि साहित्य के उडगनों में स्थान दिया गया है तो  
वे साधारण नहीं हैं, वरन् शुक्र की भाँति परम उज्ज्वल और प्रभापुर्ण हैं।

---

५२५१













